खामोशी के शब्द

एक एहसास

मिथलेश जोशी

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Ms. Mithlesh Joshi 2025

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRoseONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7018-008-6

Cover design: Yash Singhal
Typesetting: Namrata Saini

First Edition: September 2025

मेरे माता पिता को

जिनकी आँखों में विश्वास की वह रोशनी थी,
जिसने मेरे हर अंधेरे को रास्ता बना दिया।
जिनके शब्द कभी आदेश नहीं,
हमेशा सहारा बने।
जिन्होंने सिखाया कि चुप्पी कमजोरी नहीं,
बल्कि वह ताक़त है
जिससे शब्द जन्म लेते हैं।

यह संग्रह,
मेरी हर कविता, हर पंक्ति, हर विराम —
आपकी ही छाया में जन्मे हैं।

— आपकी बेटी, मिथलेश

1.

हंसी का भी ठेका अब किसी 'शो' ने लिया है,
खुद पर हंसने का हक़, क्या हमसे छीन लिया है?
दफ़्तर में बॉस की फाइलों में खोए रहते हैं,
वही मीटिंग्स, वही बातें,
बस हंसी बेचने की नई योजनाएँ रचते हैं।
हर महीने की सैलरी से जैसे हंसी पर भी टैक्स कटता है,
कभी बीपी घटता, तो कभी शूट करता है।
संडे की हंसी का कोटा भी अब 'वर्क फ्रॉम होम' में बंटता है।
वो जो ऑफिस के कॉर्नर में खड़े हंसते थे,
अब व्हाट्सऐप पर 'एलओएल (LOL)' भेजकर
मुस्कुराने की नई इमोजी रचता है।
कॉन्ट्रैक्ट में हंसी का क्लॉज डालना चाहिए,
सारा स्ट्रेस कागजों में निपटाना चाहिए।
अब तो हंसी भी कॉर्पोरेट पॉलिसी की तरह हो गई,
जहाँ सब हंसते हैं,
पर अंदर हंसी है क्या, ढूंढते हैं।
हंसी का व्यापार है, अब यही आजकल की रीत,
फेसबुक पर स्माइली, और इंस्टा पर फ़ेक ट्वीट।
स्टोरी में हंसते हैं, रील में ठहाके लगाते,
असलियत में चेहरे भी —
देसी घी की चाह है, पर वनस्पति से काम चलाते हैं।

हंसी के डिजिटल प्लान छोड़ो, असली ठहाके लगाओ,
जो बच्चा खो गया था कहीं पुरानी अलमारी या संदूक में —
आजादी दो उसे।
जिंदगी की ईएमआई नहीं,
खुशी का अकाउंट खोल जाओ।
खुद पर हंसना सीखो,
उसमें क्या कमी है? छोड़ो — एक खूबी ढूंढो।
कब तक बस मीटिंग्स और डेडलाइन्स में उलझते रहोगे!
दुनिया पागल कहे — ऐसे हंसो,
वरना आर्कियोलॉजिस्ट बन
हंसी को भूली-बिसरी सभ्यता में ढूंढते रहोगे।

*****

2.

काश

जीवन का सत्य मृत्यु न होता।
इस जीवन के बाद क्या जीवन?
गीता-ज्ञान मैं नहीं जानती,
क्योंकि ज्ञान नहीं है...
हाँ, अज्ञानी हूँ...
आत्मा है या नहीं?
लो, कोई आया।
लो, कोई चला गया।
इस यात्रा में पड़ाव मेरा भी आएगा।
गंगाजल डालने की फिर असफल चेष्टा होगी,
मेरी आँख बंद होगी।
रसोई से खड़कते बर्तनों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी।
क्योंकि, अब तक मैं अज्ञानी जान चुकी हूँ—
जीवन-मृत्यु से परे भूख शाश्वत सत्य है।
मेरी बिटिया मुझसे लिपट कर रोएगी,
कोई बहन साँसों को पकड़ने का असफल प्रयास करेगी।
मेरी अनंत यात्रा में,
मेरी जीवन यात्रा के प्रसंग होंगे।
पर अगर अचानक रात में मेरी आवाज़
तुम्हें बुलाए, तो
आँख खोल पाओगे?

इस यात्रा के बाद वर्तमान भूत हो जाएगा।
और भूत से हर वर्तमान भयभीत...
बिटिया,
तू हर कर्मकांड से परे रहना।
इस देह का दान कर,
हर दिन मेरे नए रूप से मिलना।
मेरे भूत से परे, सतत वर्तमान में जीना।

*****

3.

हारना भी ज़रूरी है कभी-कभी,
फेल हो जाना भी ज़रूरी है काग़ज़ी इम्तहानों में।
ज़िंदगी किसी तय सिलेबस की मोहताज नहीं,
यहाँ हर मोड़ पर नया सवाल है,
हर जवाब अपने आप में एक नई कहानी।
रातें, जब तुमने ख़ुद से सवाल किया,
वो आँसू जो चुपचाप तकिए में सोख लिए —
ये सब भी किसी सिलेबस का हिस्सा नहीं होते।
पायथागोरस की थ्योरम,
गूगल के सर्च बॉक्स में खो जाती है।
न्यूटन के नियम,
वर्चुअल दुनिया में कहीं पीछे रह जाते हैं।
यहाँ तो हर क्षण एक नया **अल्गोरिदम** है।
असल में, तुम गिरे फिर उठे कैसे,
न्यूटन का सिद्धांत तय नहीं करता —
ये तो तुम्हारी अपनी जिद, तुम्हारा हौसला तय करता है।
काग़ज़ी इम्तहान में हारकर,
सोचना मत कि तुम पीछे रह गए हो।
ज़िंदगी के असली इम्तहान, डिग्रियों से नहीं,
तुम्हारे दृष्टिकोण से जीते जाते हैं।
हार में भी एक नया ऐप है,
जो तुम्हें अपग्रेड करता है,
अनसमझे वायरस को डिलीट करता है।

जब असफलता दस्तक दे,
नया अपडेट समझना।
जहाँ हार भी एक कदम है,
अगली बड़ी जीत की तरफ।
अपनी **फेल्योर** को रिसेट करो,
पास्ट को 'कंट्रोल + ऑल्ट + डिलीट' करो।
कर्मभूमि में प्रश्न,
धधकते अग्नि के समान हैं —
जिन्हें उत्तर नहीं, **संघर्ष चाहिए।**
यहाँ हर हार में छिपी होती है एक **विजयगाथा**,
जो केवल वही समझता है,
जो गिरकर, गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध उठा है।

*****

4.

पितृपक्ष का अंतिम दिन
एक कौवे का,
एक गाय का,
फिर चींटी, चिड़िया और कुत्ते का भी पत्ता बना।
पूरी खीर, सब्ज़ी सजाई,
नहीं बना तो बस
कोने पड़े पिता के लिए...
क्योंकि —
अमावस खिचड़ी से नहीं,
खीर से पूजी जाती है।

*****

5.

आओ कुछ बातें करें,
कुछ कहें, कुछ उनकी सुनें।
बचपन का कच्चापन, कच्ची अमियाँ, पक्की निम्बोलियाँ,
छोटे पैर, महुए के टपके,
छोटे हाथ — तोते के कुतरे अमरूद लपके।
अनगढ़ तन, कच्ची पगडंडियाँ,
अनबुझी पहेलियाँ।
हँसी बेफिक्र थी, आँसू भी जल्दी सूख जाते थे।
कुछ भी बोझ नहीं —
दुनिया खेल का मैदान थी।
कुछ अब समझा, कुछ अनजाना जान लिया।
तुम तब भी आँखों से कुछ टटोलते थे,
इस कच्चे तन में कुछ पक्का ढूँढ़ते थे।
तुम मामा थे, तुम चाचा थे,
कभी रिश्ते के, तो कभी मुँहबोले भाई थे।
बाहों में ले अपनी कुंठा निचोड़ते थे।
शायद रिश्तों का प्यार ऐसा ही होता है?
सच यही "बड़ा" होना होता है,
या **"बड़ा" होना समझाना होता है?**
वो तुम ही तो हो जो
आज मेरे परिपक्व तन पर घात लगाते हो।
"संस्कार" अपने, मेरे बाहर आने पर दिखाते हो।

तन कच्चा हो या पक्का —
तुम एक मुखौटा लगाते हो।
बताओ —
वो नुकीले नाख़ून,
हवस भरी आँखें
घर में कहाँ छुपाते हो?
पकड़े गए तो चोर,
वरना मोमबत्तियाँ जलाते हो।
काश, ये **पुरुष-जीव निर्भय, निर्मल** होता —
इस देश में किसी बेटी का नाम 'निर्भया' न होता।
आओ अब तो कहें,
अब तो उजागर करें —
उन रिश्तों को,
जो न समझाए गए,
और न समझे गए।
आओ...

*****

6.

हवाओं की साज़िशें किसने रची हैं?
खुशबुएँ इधर केसरी, उधर हरी हो गई हैं।
रंग सुर्ख था — लहू,
जाने साज़िशें किसने कीं,
बहता है तो हरा-केसरी हो गया है।
फिजाओं में भी बंदिशें लग गई हैं,
केसर चिनार से डरकर कम उग रहे हैं।
अमन का लगाया किसी ने था पौधा,
मगर नफ़रतों की फसल उग रही है।
ये बारिश वहाँ से यहाँ आ रही है,
ये मिट्टी में खुशबू कुछ और ही घुली है।
ये बूंदों में राज़, ये तिलिस्म छुपा है,
दिलों में दीवार क़िले-सी खड़ी है।
दिलों को है बाँटा — वो चुप से खड़े हैं,
ये चुप्पी भी उनकी नई साज़िशें हैं।
परिंदे भी बेख़ौफ़ से अब नहीं हैं,
घर लौटकर अब नहीं आ रहे हैं।
बिसातें बिछाकर खिलाड़ी छुपे हैं,
ज़हर बाँटकर अब मासूम बने हैं।
रंगे सियारों की टोली शोर करे है,
दिखा के हाथ साफ़ — बता रहे हैं।

*****

7.

बंद कमरे में लगाकर बंदिशें,
आज़ादी की बात करते हैं।
पंख कुतरते हैं —
और उड़ने को कहते हैं।
नारी आज़ादी पर भाषण कितने बिकते हैं आजकल!
छोटे कपड़े —
देह विच्छेदन का अधिकार देते हैं।
यही 'बुद्धिजीवी' हैं,
जो चोली के पीछे तकने की चाह में
शीला को जवान कर,
मुन्नी को बदनाम करते हैं।

*****

8.

तुम गए हो — तो लौटकर आओगे ही?
संभव है, सकल रूप में न आओ,
पर तुम आओगे।
जब बारिश की बूँदें धरती को छू जाएँगी,
तुम्हारे न होने के प्रतिमान
भंग हो जाएँगे —
एक चाय की प्याली की छलक में,
खदकते भात की ख़ुशबू में,
नल से टप-टप करते पानी की आवाज़ में,
बेड़ु के पेड़ की उस टूटी-सी शाखा में,
बालकनी में पड़े अख़बार की खुलती रबड़ की सरसराहट बन,
गौधूलि पर नारंगी सूरज की आभा बन —
तुम अदृश्य हो, दृश्य हो जाओगे।
वो कोने में पड़ी, खाली-सी कुर्सी
अनुपस्थिति को चीख कर दर्ज कराती है।
तस्वीर की माला भ्रम है।
आँखों को रगड़, जमे मोतियाबिंद को हटाती हूँ —
प्रकाशवर्ष-सी दूरी को
आर्यभट बन नाप जाऊँगी।
यायावर बन,
एक नया भूगोल, नया इतिहास रच,
बिन निशानों की राह पर
एक राह बनाऊँगी।

क्या तुम उन पर चलकर आओगे?
हर उच्छ्वास में
कुछ नया शब्द रच जाओगे —
क्या तुम आओगे...?

*****

9.

16 दिसंबर इस बार अगस्त में ही आ गया।
न ममता जागी, न नरों के इंद्र को जगा गया।
कौरवों की सभा में धृतराष्ट्र अनगिनत हैं।
एक मोमबत्ती जलाकर,
रावण-दहन की संस्कृति भुला गया।
बुरा बहुत बुरा होता है —
समझकर समझदार हो गए।
गांधी के तीन बंदरों से 'बुरा' हटाकर
"मत सुनो, मत देखो, मत बोलो"
जन-जन को सिखा गया।
बिवाइयाँ तेरे पैरों की तो दर्द मेरा कैसे?
स्तन नोचो, योनि को सरियों से रोंधो,
आत्मा को अनगिनत हाथों से करोचो।
कल दिल्ली, आज कोलकाता —
कल कुछ और हो जाएगा।
कुछ चंद मोमबत्तियाँ फिर जलेंगी,
और ये देश,
लालकिले के प्राचीर से स्वतंत्रता ध्वज फहराएगा।
मैंने कोई "भारत बंद" नहीं माँगा।
140 करोड़ 'धृत-गांधारीय' डीएनए —
राखी मना लेना,
पर **एक बहन के लिए इंसाफ़ भी लेना।**

दुर्गा पूजा में पंडाल सजाना,
पर **विसर्जन से पहले**
महिषासुरों का वध कर लेना।
देवों को जगाने के लिए इग्यारस में शोर खूब मचा लेना।
एक देवी की आवाज़ सुन,
संग आवाज़ उठा लेना।
द्रौपदी के खुले केश फिर महाभारत न रच दें।
ओ गांधारी —
"ममता" की पट्टी हटा देना।
नारी अस्मिता पर कूटनीति न करना।
नीतिवान रहना।
कुछ ऐसा करना —
इस अंधे देश की नपुंसकता को हरना।
बस, फिर कभी
16 दिसंबर या कोलकाता पर
मौनी अमावस न करना।

*****

10.

कुछ दर्द था तो कह देते,
जो दरवाज़े बंद थे उन्हें ज़रा खोल देते।
कुछ हम सुनते, कुछ तुम सह लेते —
ये ऊन का गोला,
स्वेटर पूरा होने से पहले उलझ जाता है।
एक छोर की टोह में
दूसरा छोर कहीं खो जाता है।
उलझनें सुलझ जातीं,
अगर तुम खींचते — हम ढीला छोड़ देते।
ज़िंदगी की स्वेटर में
एक उल्टा तुम, तो एक सीधा हम डाल देते।
जो बॉर्डर बनाए,
उसे कुछ हम भी सुधार लेते।
ज़िंदगी भी क्या स्वेटर सी —
रंग-बिरंगी ऊनी कहानी है।
सामने से देखो तो लाजवाब,
पीछे जाने कितने रंगीन जालों की रवानी है।
कभी-कभी कुछ फंदे,
बॉर्डर बनते ही गिर जाते हैं।
सिलाइयों को आड़ा-तिरछा करने पर
साथ आ जाते हैं।
कुछ लाख कोशिशों के बाद भी
फिसले रह जाते हैं,

गाँठों से बाँधने पर भी
साथ छोड़ जाते हैं।
काश, कहते तो सही —
इस उधेड़बुन में
कुछ तुम उधेड़ते,तो कुछ हम बुन लेते।
ये हाईनेक को छोड़,
कभी गोल, कभी वी कर लेते।
ज़रूरी नहीं कि सिलाइयों में पड़े हर फंदे से
परफेक्ट स्वेटर की बुनाई हो।
कुछ स्वेटर अधूरे भी रह जाते हैं,
कुछ छोटे, तो कुछ बेमेल हो जाते हैं।
तुम कहते तो सही,
कुछ गोलों को हम बदल देते।
जो तुम कहते,
स्वेटर को उन्हीं रंगों से भर देते।
सिलाइयों से
एक लाइन तुम और एक हम बुनते।
अंगड़ से सही,
पर साथ-साथ —
एक स्वेटर तो बुन लेते।

*****

11.

एक यशोधरा
किसी कपिलवस्तु में आज भी बसती है।
कुछ बड़ा करने, दुनिया बदलने की
किसी और की आकांक्षा पर—
"क्यों, कैसे, क्या" के साथ
प्रश्नचिन्ह बनती है।
यशोधरा भी मन में प्रश्न रखती है—
"मैं अगर तुम होती..."
रात के अंधकार में,
प्रकाश की खोज में,
एक अबोध को त्याग कर
यूँ न जाती।
साहस रखती, तुम्हें बताती,
उस अबोध को सीने पर रख
साथ ले जाती।
कुछ प्रश्न सत्य के जागे थे,
कुछ वचन किसी संग बांधे थे,
या वचन सभी वो मिथ्या थे?
अग्नि का पावक ताप,
नन्हे का कलरव राग,
मेरा चल-अचल संताप—
कैसे विचलित न कर पाया?

जो मैं अगर, तुम होती...
पग धरती, पायल चिल्लाती,
सांकल पर हाथ ज़रा रखती,
कंगन मौन क्रंदन कर जाते,
चौखट से पैर परे रखती—
निर्वाण उसी क्षण पा जाती।
युगपुरुष सत्य का दर्शन कर,
साहस इतना तू कर जाना—
फिर कोई यशो न,
राहुल को प्रश्नों से पीड़ित कर जाना।

*****

12.

शारीरिक नपुंसकता,
मानसिक नपुंसकता से बेहतर है।
वह सिर्फ़ एक पीढ़ी को हीन करती है,
पर मानसिक नपुंसकता
सतत पीढ़ियों को नपुंसक बना देती है।

*****

13.

माँ सब्र का कैसा पैमाना है

मैं उसके बार-बार आते फोन से खीज जाती हूं,
फोन नहीं उठाती हूं।
"उफ! बिटिया इतनी व्यस्त है काम में,
मैं पगली कैसे अपनी बात बताने को उसे परेशान करती जाती हूं..."
माँ, तुझे मालूम है, तेरे पुराने जेवर एंटीक हैं,
वो पुराना तेरी शादी का संदूक तेरे लिए अनमोल है।
पुरानी डेगची में तुम यादों की छौंक लगाती हो,
आज भी साड़ी के पल्लू से सिर ढक
जाने कौन-सी मर्यादा निभाती हो।
पापा के जाने पर
तुम भी रोई थी।
मटन करी, जो कभी तेरी पसंदीदा थी,
पेट खराब करती है — कह कर तूने फिर कभी ना छुई थी।
माँ, तू एक कोने में रहती है,
अपनी दवाई को नीली, पीली, लाल कहती है।
हम पढ़े-लिखे 'प्रैक्टिकल' होने की बात कहते हैं,
हर बीमारी को बढ़ती उम्र से जोड़
नज़रअंदाज़ कर देते हैं।
सच — पुराने जेवर, ज़मीन और पीतल के बर्तन
सालों दर साल और कीमती हो जाते हैं,
ना जाने क्या बात है —
ये झुर्रियों वाले हाथ,

कम सुनते कान,
2 रुपए किलो वाला कबाड़ भी नहीं रह पाते हैं।
मैं भी तो इस समाज का हिस्सा हूं,
मेरा ही नहीं — ये हर घर का किस्सा है।
जानते हैं, पर मानना चाहते नहीं,
वृद्धाश्रम में न जाने किस घर का हिस्सा है...

*****

14.

सियासत की तहज़ीब मैं नहीं जानती
राम हिंदू, अल्लाह मुसलमान — मैं नहीं मानती।
राजनीति की हिंदू बेटी
इफ्तार की दावत देती है,
सियासत का मुस्लिम बेटा
होली मिलन पर गले मिलता है।
सैवैयां तो राखी पर भी बनती हैं,
तो ईद सिर्फ़ मुस्लिम की कैसे हो गई?
रोज़ा चाँद से खुलता है,
तो चौथ सिर्फ़ हिंदुओं की कैसे हो गई?
पीर पर चादर मन्नत की
मौली लगे हाथों से बाँधी थी,
तो माँ की आरती सिर्फ़ मेरी कैसे हो गई?
आग जब हर ओर है —
तेरी रोटी सिकती है,
और मेरी जल के कोयला कैसे हो गई?
खेल हिंदू–मुस्लिम का ये नेता खेलते हैं,
तो गलियों-चौराहों पर मौत मेरी कैसे हो गई?

*****

15.

सरहदों पर कंटीले तार लगा, बाँट डाला,
रंग भी — गेरुआ तेरा, हरा मेरा कर डाला।
न जाने किसकी साज़िश है जो...
गेरुआ गेंदे को हरि पत्तियों में सजा डाला।

*****

16.

कभी सपनों की क्यारी बनाएँ,
कुछ चुभते काँटों पर नई कोंपल सजाएँ।
कभी उम्र ने बदले अंदाज़,
तो कभी अंदाज़ ने उम्र।
चलो, हर रात तकिए के लिहाफ़ में
एक नया सपना बो दें।
अभी-अभी तो जागी थी,
अभी-अभी तो चलना सीखा था —
अनायास ऊँगली छुड़ाकर
वक़्त की हवा ने क्यों लाठी थमा दी?
दर्पण में जब खुद को निहारा,
तो अचानक उस पर सलवटें कैसे आ गईं?
ये वक़्त है जनाब —
कभी डराता है,
कभी सजाता है,
कभी सज़ा देता है।
एक इत्र का झोंका है ये,
जो ठहरता नहीं।
कैदी है क्या किसी का?
तभी तो रुकता नहीं।
चलो, वक़्त से समझौता करें —
उसके कुछ पल चुरा लें।
कुछ माँगे हुए सपने

उधार ले आएँ उससे।
कुछ सलाह करें,
कुछ संवाद करें।
एक सीढ़ी, सेम की बेल से टिकाकर,
वक़्त की दीवार पर चढ़ जाएँ।
थोड़े पल ही सही,
एक बगिया उसकी भी उगा लें —
छोटी ही सही, पर हमारी हो।

*****

17.

उम्र बढ़ गई,
पर अब भी आज़ाद होना चाहता हूं।
इस खून में फिर से इक इंकलाबी
इक़बाल जगाना चाहता हूं।
मुगलसराय के स्टेशन पर
इलाहाबादी अमरूद ढूंढता हूं,
फूलवालों की सैर जैसे हर दिन हो,
केसरिया में घुला हरा सूफियाना राग सुनना चाहता हूं।
78 की उम्र में
1904 का गीत फिर से समझाना चाहता हूं।
लाल किले की प्राचीर से
सिर्फ़ एक बात दोहराना चाहता हूं —
मजहब नहीं सिखाता, आपस में बैर करना।
मंदिर हो या मस्जिद,
हर दिल में बस भारत लिखना चाहता हूं।
तुम जो चाहो बदल लो,
मैं तो बस दस्तावेज़ से 'धर्म' हटा
'इंसान' लिखना चाहता हूं।

*****

18.

काश... मेरा एक ही बेटा होता,
तो हर रोज़ चार हिस्सों में ना बंटती।
चार मौसमों-सी कभी आती, कभी जाती ना होती।
तब एक ही घर मेरे लिए छोटा पड़ता,
एक ही बिस्तर के किसी कोने में ठिकाना बनता।
एक ही बहू महंगाई की गाथा गाती,
पर कम से कम...
मेरी बातों में ताने ना पिरोती।
और जब मैं मरती...
तो मेरी अंतिम क्रिया के लिए
चारों में झगड़ा ना होता।

*****

19.

हम दिल से बात करते हैं,
वो सिर्फ दिल रखने को सुनते हैं।
हम दिल की कहते हैं,
वो दिल में रख लेते हैं।
बात एक ही होती है,
पर दिल के अंदाज़
और जज़्बात बदल जाते हैं।

*****

20.

पुरुष का जन्म आसान नहीं होता।
लौंग-बताशे के जोड़े से,
नौ दुर्गाओं के कितने ही व्रत रखे जाते हैं।
कन्याओं के पैर धोकर मन्नतें माँगी जाती हैं,
माँ स्कंदमाता के आशीष से
तब एक पुरुष जन्म लेता है।
माँ के आशीर्वाद का कवच बुन दिया जाता है,
चौथ का रक्षा-सूत्र बाँध
सिंदूर की लक्ष्मण-रेखा खींची जाती है —
लंबी उम्र की कामना में
एक नारी व्रत करती है।
तब पुरुष दीर्घायु होता है।
और एक महिला का जन्म भी आसान नहीं होता।
लाख काढ़ों से,
हज़ारों बद्दुआओं से रोका जाता है,
फिर भी वो आती है।
कितने गड्ढों और पायों पर नाम लिखा जाता है,
देवता के वास के लिए
नारी को पूजने का दिखावा होता है —
पर तब भी वो जीती है।
और **जी लेती है।**

मुश्किल दोनों की है।
पर एक नारी की रक्षा में
कोई देव नहीं पूजा जाता।
चलो, इस एकादशी
इन देवों को जगाएँ,
बेटों को कुछ इस तरह पढ़ाएँ —
कि हर बेटी को **बचाएँ।**

*****

21.

ये "सच" का बाज़ार उम्र का ग़ुलाम होता है,
उम्र बढ़ते-बढ़ते इंसान **सच** से दूर होता है।
मेरा पोता मेरी आँखों को देखकर
बोलते-बोलते चुप हो जाता है —
पर बेचारा **सच**,
झूठ के भ्रम-जाल में फँस जाता है।
एक दिन मैं **फेसबुक** के किसी चिरकुट बाबा का टीपा हुआ "ज्ञान"
बघार रही थी —
कि "सच के साथ होने के लिए जज़्बा चाहिए, बाहुबल नहीं...
एक **आंतरिक शक्ति** चाहिए।"
तभी मेरा पोता ग्लूकोन-डी से भरा गिलास ले आया:
"दादी, पिया करो।"
ग्लूकोन-डी, महिला हॉर्लिक्स भी पी,
पर **सत्य वाला साहस** अब तक नहीं आया।
गुज़ारिश है,
इन शक्तिवर्धक ड्रिंक बनाने वालों से,
या मर्दाना ताक़त का दावा दीवारों पर पोतने वालों से —
कोई दवा ऐसी तो बनाइए
कि अगर **सच बोल ना सकें**,
तो कम से कम **झूठ न बोलें।**
बस —
सच बोलने वाले के साथ खड़े हो जाइए।

गाँधी-हरिश्चंद्र की **किंवदंतियों** से आगे बढ़िए —
इस कलियुग में **सच के साथ होने** की बात
किसी **अपने के किस्सों से जोड़िए।**

*****

22.

दुनिया बदलने का ज़ज्बा है
किसी सिगनल पर कुछ फूल खरीदती हूँ
दुनिया बदलने का ज़ज्बा है
किसी सिग्नल पर कुछ फूल खरीद लेती हूँ,
बीस रुपये के।
पुराने कपड़े दान करती हूँ,
बाहर खाना खा लेने को दे देती हूँ।
बीमारी के नकली पर्चे जानती हूँ,
फिर भी किसी बीमार को सौ रुपये थमा देती हूँ।
यूनिसेफ को समर्थन देती हूँ,
सीरिया की तस्वीरें देख रो देती हूँ।
गोधरा पर **सहम जाती हूँ**।
पर
मैं वाकई कुछ बदलती हूँ?
हर पल कोई नया सिग्नल सामने आता है।
हर अस्पताल के बाहर,
बिना दवा के कोई मर जाता है।
ग्लोब पर एक और नया सीरिया जन्म लेता है।
विश्व शांति पर कोई नया नोबेल पुरस्कार बँटता है।
बहुत कुछ बदलता है...
फिर भी
कुछ नहीं बदलता है।

अब मैं खुद से पूछती हूँ —
क्या मैं खुद को और बदलूँ?
या अब और कितना बदलूँ?
हिंदी अख़बार की जगह अंग्रेज़ी पेपर पढ़ लूँ?
क्या बदलाव बस एक पर्चा है?
या फिर किसी राजनैतिक झोंके की तरह
एक भुलावा?
नहीं।
मैं थकूँगी नहीं...
मैं चलूँगी...
इसी तरह।
शायद यही एक नई शुरुआत हो —
बदलाव के लिए।

*****

23.

आदतें आदतन पड़ जाती हैं
कुछ हम गढ़ते हैं,
कुछ अपने आप गढ़ जाती हैं।
दर्द सहना या देना —
कभी आदत, कभी चाहत बन जाती है।
रिश्तों की बखिया उधेड़ना
फिर सीने की जगह
हर बार चुभने की लत बन जाती है।
आदतें बदलती नहीं?
या ना बदलने की आदत बन जाती हैं?
हर कमी —
एक आदत का नाम लेकर
ज़िंदगी से चिपक जाती है।
कौन कहता है —
मुस्कुराना आदत न बने?
कहाँ लिखा है —
बिन माँगे हाथ बढ़ाना गुनाह है?
जैसे शिकवे करने की आदत सीखी,
वैसे ही किसी का मन जानने की आदत क्यों नहीं?
बुरी आदतें छूत की होती हैं,
तो फिर प्यार की आदत भी छू जाए —
ऐसी क्यों नहीं?

बिन माँगे सलाह देना आदत नहीं,
कभी ख़ामोशी से साथ चलना भी
इक अच्छी आदत होती है।
दिल की बात आँखों से समझने की
आदत तो बनाओ।
महल और चाँद सबके अपने होते हैं,
कुबेर भी हालात से जूझते हैं।
कौन कहता है —
हर नदी आँसू बन कर बहे?
कभी उम्मीद का दीप जले
इस आदत को बनाओ।
बड़ा सुकून है,
यूँ बेमतलब किसी की फिक्र करने में,
चलो, इस पागलपन को
आदत बना लो।

*****

24.

चार लोग क्या कहेंगे —
हर पल कहते हैं,
हर कोना पहचानता है इन्हें।
चार धाम की तरह पूजे जाते,
लोकतंत्र के चार स्तंभ बन जाते।
चार कांधे मोक्ष दिलाते,
चार दिशाओं में भ्रम फैलाते।
चार युगों से,
चार बातें दोहराते हैं —
चार लोग।
इन चार में
एक मैं होता हूँ,
एक तू बन जाता है,
बाकी दो —
हमारे भीतर के
संदेह और भय बन जाते हैं।
तिल का ताड़ ये वही बनाते हैं,
जो सुनते कम
और परखते ज़्यादा हैं।

कभी कर लें अगर इन्हें मौन,
तो चारों दिशाएँ शांत हो जाएँ।
एक चिंतन से,
हर घर में
चार धाम बस जाएँ।

*****

25.

बहुत दिनों से मन व्यथित था,
स्व की पहचान,
ज्ञान की प्राप्ति की तलाश थी।
आत्मा क्या है? ईश्वर कौन है?
सोचा — गेरुआ पहन लूं,
साधु बन जाऊं,
सब कुछ त्याग —
मध्य रात्रि में
मैं भी बुद्ध बन जाऊं।
इसी अंतर-कोलाहल में
रात के सन्नाटे में
चुपचाप चल पड़ी…
पर याद आया —
सुबह के लिए छोले तो भिगोए ही नहीं,
दूध भी अब तक गुनगुना हो गया,
दही जमाया नहीं।
फिर भी, सब भूलकर
मैं चलने लगी —
पर पालने में सोते राहुल ने
पल्लू थाम लिया।
मैंने धीरे से छुड़ाया।

दरवाज़ा खोला,
सीमा पार की —
तो सांकल ने पल्लू पकड़ लिया।
भरमाई-सी लौटी,
राहुल को देखा,
छोले भिगोए,
दही जमाने रख दी।
तब समझ आया —
अगर सांकल न होती,
अगर दरवाज़े महलों जैसे होते,
अगर रात्रि में सचमुच निकल गई होती —
तो भी,
मैं सिर्फ **"एक सवाल"** बनकर रह जाती।
मैं जान गई —
एक औरत कभी बुद्ध नहीं होती।

*****

26.

बात उनसे यूँ तो रोज़ ही होती थी,
पर आज कुछ खास हो गई।
अपनी बात तो बस यूँ ही कह दी,
मैंने कहा — तो लाजवाब हो गई।
कुछ तंज था, कुछ नाराज़गी —
"आजकल तुम कुछ नहीं करती हो..."
मैं मुस्कुरा दी —
सच है, कुछ नहीं करती हूँ।
आजकल बस अपने मन की करती हूँ।
खो गई थी कहीं,
अब मिल गई हूँ —
बालों के काले सायों में
बचपन की सफ़ेद खड़िया से खेलती हूँ।
आजकल बस अपने मन की करती हूँ।
खुद से ठिठोली करती हूँ,
पुराने चरमराते पीले पन्नों में
छुपे सूखे पत्तों से बात करती हूँ।
बूढ़ी घोड़ी को लाल लगाम से सजाती हूँ।
आजकल बस अपने मन की करती हूँ।
ख़त का मजमून अब लिफाफे से नहीं भांपती,
ना राम देखती, ना सीता का भरम रखती।
खुद के वादे पर ऐतबार करती हूँ,

हार भी जाऊँ तो बेझिझक हँसती हूँ।
आजकल बस अपने मन की करती हूँ।
सुर्ख रेशम पर कैनवास का जूता पहनती हूँ,
बीमारी हो तो कबूतर सी आँख नहीं करती।
चटनी को जलेबी के संग चखती हूँ।
आजकल बस अपने मन की करती हूँ।
प्यार का खुलकर इज़हार करती हूँ,
मुस्कुराती नहीं — ठहाकों में बात करती हूँ।
फ़ैज़ की नज़्म को अपना इंतख़ाब बनाती हूँ।
पचास के पार हूँ, तो क्या तो क्या खता करती हूँ?
आजकल बस अपने मन की करती हूँ।

*****

27.

कुछ तो हाथों की लकीरों में उसके ख़ास होगा,
जो मेरे डर को दूर करने — सीमा पर खड़ा है।
हिस्से की ज़मीन तो मेरी भी है,
फिर मेरे लिए — वो घर छोड़ रण में खड़ा है?
चार आने की न सही,
एक आने की ही बहादुरी दिखा दें —
देश तो मेरा भी है,
ये सबको बता दें।
टैक्स तो वो भी देता है,
फिर भी शहादत का जामा उसी ने क्यों पहना है?
होली तो सबकी है,
पर लाल फाग उसी ने क्यों खेला है?
उसकी माँ भी शहादत को बपौती कहती है —
जाने किस मिट्टी की बनी है वो,
जो पति को श्रद्धांजलि देती है,
और बेटे को युद्ध-तिलक लगाती है।
उसकी बेटी ‘फादर्स डे’ पर कोई पोस्ट नहीं करती,
क्योंकि वो जानती है —
जिस पोस्ट पर उसके पिता हैं,
वो खबर बनती है... फोटो नहीं।
उसकी पत्नी, अपनी माँग में सिंदूर भरकर,
हम जैसों की लंबी उम्र की दुआ माँगती है।

भाई से कहती है — "तेरी जीत ही इस बार राखी होगी।"
और वो, गोली को भी “होली” कहकर मुस्कुराता है।
हम समझते नहीं —
जो सामने नहीं होता,
उसे मानते नहीं।
जूते की चुभन से डर जाते हैं,
एक वो है, जो अंजानों के लिए
अपना लहू लुटा आता है।
हम क्या प्रण करें?
ये भी कोई आकर बताएगा क्या?
वो उस ओर डटा है —
हमारे लिए — विशाल दीवार से अकेला भिड़ा है।
तो चलो... इस ओर की अनदेखी दीवारें गिरा दें।
हुंकार लगाएँ — जो सोए हैं, उन्हें जगा दें।
"वंदे मातरम्" फिर हर घर में गूंजा दें।

*****

28.

मैं…
हाथ से "हिंदुत्व" की मौली उतार,
"भारतीयता" का तिरंगा बाँध लूँगी।
नाम के पीछे से उपनाम मिटा,
जाति का बंधन तोड़
सिर्फ़ "भारतीय" कहलाऊँगी।
ये छोटी-सी पहल आज है —
पर कल जन-जन को जगा देगी।
कुरान को गेरुए से रंग दें,
गीता को हरे से सजा दें।
टोपी और जनेऊ का फ़र्क भुला दें —
और हमें… सिर्फ़ इंसान बना देगी।

*****

29.

होठों को ज़रा टेढ़ा करो,
मुस्कुराहटों से ज़िंदगी सीधी हो जाएगी।
आँखों को बस कुछ देर बंद करो,
नज़रअंदाज़गी से बात बन जाएगी।
कभी-कभी क़दमों को रोक भी लेना,
क्या पता… कोई नई राह खुल जाएगी।

*****

30.

अल्ज़ाइमर से पीड़ित अम्मा ने
गर्मी की भरी दोपहरी में
अपने संदूक से स्वेटर निकाली।
"अम्मा, ये जून में स्वेटर काहे?"
मैं हँसकर पूछ बैठी।
अम्मा खीजकर बोली —
"सर्दियाँ तो आई नहीं,
तो फिर जून पहले कैसे आ गया?
हमको बहकाओ मत..."
"जून है, तो बिट्टी घर क्यों नहीं आई?
पप्पू के पास होने की मिठाई हमने क्यों न खाई?
मोहल्ले में बच्चों ने धमाचौकड़ी क्यों न मचाई?
ईद पर अख़्तरी बानो के घर से सैवइयाँ क्यों नहीं आईं?
और तेरे बाबा... लंगड़ा दशहरी घर क्यों नहीं लाए?"
मैंने कहा —
"अम्मा... तुम्हारी भूलने की बीमारी बढ़ रही है।
पापा की तस्वीर की माला भी नहीं दिखी।
देश पर विपदा है —
कोरोना ने ऐसी मार लगाई...
कि गर्मियों की छुट्टियाँ भी डर से
जून से पहले ही आ गईं।
बाहर निकलना मना है,

दूरी बनानी है —
इसीलिए बिट्टी नहीं आई..."

अम्मा धीरे से बोली —
"तो फिर मेरी दवा क्यों नहीं आई?
आँगन में आम की गुठलियाँ तो हैं,
पर मैंने कोई फाँक नहीं खाई..."

"ये भूलने की बीमारी शायद छूत की है —
क्योंकि स्टोर रूम में रखे ‘इस’
पुराने सामान को भी किसी ने याद नहीं किया।
कोरोना भी बुढ़ापा है शायद —
तभी लोगों ने दूरियाँ बना लीं..."

"और जो जवानी थी,
उसे अल्ज़ाइमर से निजात दिला दी —
घर में रसोई और करछुल की याद दिला दी।
तड़का... बातों का ही नहीं,
दाल का भी होता है।
झगड़ा... अहम का ही नहीं,
भावनाओं का भी होता है..."

"स्वेटर तो बस एक बहाना था,
कुछ पल तू पास बैठ जाए —
बस तुझसे बतियाना था..."

घर में ताले बाहर से लगते हैं —
पर दरवाज़े...
हमेशा भीतर से खुलते हैं।

*****

31.

वो मेरे घर से पाँचवें
सुनहरे दरवाज़े वाले घर में रहती है।
मजबूर है, पर
कभी शिकायत नहीं करती।
कभी मेरे घर आकर
भतीजे के डॉक्टर बनने की मिठाई दे जाती है,
तो शाम को अख़बार दिखाकर
बहन के समारोह का आँखों देखा हाल सुनाती है।
कितना सुकून होता है उसकी आँखों में,
चश्मे के कोने से ख़ुशी कौंध जाती है।
स्वेटर के फंदों में कोई रिश्ता बुन जाती है,
जहाँ कुछ उधड़ता दिखे —
वहाँ मज़बूत गाँठ लगाती है।
भतीजे का अमेरिका का वीज़ा लग गया —
पर उड़ने से पहले वो खुद ही
सात समंदर पार चली जाती है।
अकेली ही,
पचास खाने के डिब्बे पैक कर,
अपना और रामू का घर चलाती है।
"मेरे अपने सुखी हैं,"
कहकर वो
ख़ुद को भी सुखी कर लेती है।

फिर कोरोना क्या आया,
सब कुछ जैसे ठहर सा गया।
सब्ज़ी की क़िल्लत नहीं थी —
पर एक भी डिब्बा नहीं बना।
"मेरे अपने तो मेरे लिए कुछ कर ही देंगे,"
कहती है वो,
पर बेचारे रामू के घर अब पैसे कैसे जाएंगे?"
वो जानती है —
उसका भरोसा टूट जाएगा,
क्योंकि सिर्फ़ उसके हाथ ही
उसके काम आएंगे।
ना कोई बड़ा बंगला,
ना डॉलर वाला खाता —
उस वक़्त एक सेंट देगा।
ख़ून के रिश्ते,
उम्मीद के रिश्ते —
सब फीके हो जाएंगे।
दानवीर बहन के दान की गाथा
अख़बार में छा जाएगी,
पर उसके हिस्से में
प्यार का एक बोल नहीं आएगा।
मैं जानती हूँ...
कि वो ये सब जानती है।
और फिर भी
वो जीती है —
क्योंकि उसमें जीने की ताक़त है।

कभी किसी की रसूख से,
कभी मेहनत से —
कुछ नहीं माँगती।
इन दिनों भी,
रामू के घर को
अपने जेवर बेचकर चलाती है।
हर बार मुस्कुरा देती है —
और कहती है:
"अरे… रिश्ते खून के नहीं,
हालात के होते हैं।"
"वो चाचा का बेटा — पायलेट है,
घर में तनख़्वाह बिना बैठा है।
कॉल करके पूछ लूँ,
जेब का हाल कैसा है?"
"कहीं उसका अमरीका वाला भाई
डॉलर के चक्कर में
रिश्तों को बोझ ना बना दे…"
आज मेरा ये छोटा-सा खाने का डिब्बा
उनकी उम्मीद बचा लेगा,
और उनके ख्वाबगाह में
हालात के नए रिश्ते उगा देगा।

*****

32.

जो होना है — वो होकर ही रहेगा,
तो फिर…
किस बात का ये रोना, ये थकना, ये डरना?
चौबारे पर तुलसी अब भी हरी है,
उसके पास —
जगमग करता एक विश्वास का दीपक रखा है।
उस दीपक का तेल मेरी आशाएँ होंगी,
बाती होंगी — मेरी अधूरी इच्छाएँ,
और माचिस —
मेरे भीतर की वो जिद, जो हर बार कहती है:
"मैं अब भी जल सकती हूँ।"
सागर चाहे जितना अभिमान करे,
डुबा देता है जहाज़ों को —
पर एक नन्हा-सा तिनका,
अगर ठान ले…
तो वो भी लहरों को चीर सकता है।
मैं वही तिनका हूँ।
हारूँ कैसे?
मैंने देखा है वक़्त को करवट लेते,
बिजलियाँ चमकती रहीं —
पर मैंने दीप जलाया।

मैंने सुनी हैं तूफ़ानों की गरज,
पर मन में एक आवाज़ आई —
"चल... चलती रह।"
अब लड़ना नहीं है किसी से —
ना दुनिया से,
ना खुद से।
पर झुकना भी नहीं है —
अब रुकना नहीं है।
वक़्त अगर चले —
तो मुझे दौड़ना होगा।
मेरे कर्म, मेरी मेहनत ही मेरी दिशा है,
मेरी आस्था ही मेरी राह।
और इस राह पर...
अब तूफ़ानों को भी
मेरे आगे झुकना होगा।

*****

33.

मैं यूँ तो बहुत कुछ कह जाती हूँ,
पर कुछ बातों को
बस नज़रअंदाज़ कर जाती हूँ।
छलनी-सी आदत बना ली है —
रिश्तों की चाय में
कोई कड़वाहट न घुल जाए,
इसलिए हर बात को
धीरे से छान लेती हूँ।
अनसुना कर
एक फ़िल्टर-सा लगा लेती हूँ।
तुम ये मत समझना
कि हम पहचानते नहीं।
सब जानते हैं —
बस जानकर भी
कभी-कभी अनजान बन जाते हैं।
हम मुस्कुरा देते हैं
उन बातों पर भी
जो शब्दों की चादर ओढ़े होती हैं।
कमज़ोरी नहीं है ये —
इसे हमारा प्यार समझना।
हम हर रिश्ता
दिमाग से नहीं,
दिल से निभाते हैं।

तुम्हें जो करना है — करो,
हम तो अपनी करते जाते हैं।
“तुम” और “मैं” की दीवारों को
हर बार गिराते हैं,
अपने अहम की आहुति देकर
हर बार
फिर से “हम” बनाते हैं।

*****

34.

जब **विश्वास अंधा हो जाए**,
तो वह **अंधविश्वास** बन जाता है।
धाम में दरबार लगे —
तो **घंटाल** भी 'गुरु' कहलाता है।
हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई —
सब धर्म के नाम पर लड़ते हैं।
आँखें खुली होती हैं,
फिर भी **उल्लू का चश्मा पहन अकड़ते हैं।**
हर मज़हब में
कोई न कोई *मूर्ख बनाने की सभा* चलती है —
और मूर्ख बनने में
अमर, अकबर, एंथनी
साथ-साथ छलते हैं।
हर दरबार में
'चमत्कार' के कुछ *सस्ते तमाशे* होते हैं —
पर घर लौटते-लौटते
भक्त सारे बुद्धू होते हैं।
बचपन में मदारी आते थे —
कान से रुपया निकालते,
मुँह से लोहे के गोले उगलते थे।
रस्सी को साँप बना
'अद्भुत खेल' दिखाते थे।

जमूरे को थैले में बंद कर
चादर उड़ाते थे —
और फिर आटा-चावल माँग
रोटी का इंतज़ाम करते थे।
आज के ये 'धार्मिक ठेकेदार'
उन्हीं मदारियों के वंशज हैं —
बस अब चादर के नीचे
बैंक अकाउंट छुपा बैठते हैं।
आँखें खोलो —
तमाशे को धर्म से मत जोड़ो।
ईश्वर एक है —
पर इन ठेकेदारों से परे है।
प्रभु से नाता जोड़ो,
धर्म की दुकान से रिश्ता तोड़ो।

*****

35.

पहला प्यार
पहला आलिंगन
पहला चुम्बन
कभी नहीं भूल पाते
अगर सही व्यक्ति का हो
जिससे आत्मा जुड़ जाए...
फिर माँ कौन है?

*****

36.

परेशां हो गई हूँ कहते कहते
ज़रा सीधे होकर तो चलो
बिन बारिश के भी न जाने कितने केंचुए और सांप पनपनते है
गिरगिटों की दुनिया में मशहूर है हम इंसान
वो तो सात और हम पल पल में जाने कितने रंग बदलते है

*****

37.

पांडवों का मातृप्रेम
कलयुग में भी निभाया जाता है,
जब बूढ़ी माँ
बचपन की तरह नहीं,
बचों में बाँटी जाती है।
रोटी तो बस एक खाती है,
पर बोझ बड़ा-सा समझी जाती है।
अब माँ के बार-बार आने वाले फ़ोन से
मैं झुँझलाती नहीं —
"व्यस्त हूँ" कह
कभी टालती नहीं।
अब समझने लगी हूँ —
कि तू हमेशा मेरे लिए मौजूद थी।
अब मैं भी
तेरे लिए वक़्त निकालने लगी हूँ।
अगर तेरी यादें उम्र की धुंध में
धीरे-धीरे धुँधली हो रही हैं,
तो मैं उन्हें
तेरे बचपन के किस्सों से
फिर से चमकाने लगी हूँ।
तेरी वो काजल की कटोरी
अब भी वहीं रखी है —
जिससे तू

मेरे माथे पर नज़रबट्टू लगाती थी।
अब मैं,
तेरे चाँदी जैसे बालों और झुर्रियों पर
काला तिल बना देती हूँ —
कल तूने किया था,
आज मैं तेरी नज़र उतारती हूँ।
सुना है,
आजकल तबीयत कुछ नासाज़ रहती है...
तो मैं अल्लाह और ईश्वर — दोनों से
नाराज़ रहने लगी हूँ।
अब मैं हाथों की लकीरों को
नज़रअंदाज़ करती हूँ —
और हर रोज़ दुआ करती हूँ:
“सौ साल की उम्र भी कम है, माँ।”
तेरी आवाज़ में लड़खड़ाहट है,
तेरी आँखों में मोती हैं —
फिर भी तू
लाखों की भीड़ में
मुझे ढूँढ लेती है।
जब मैं माँ बनी —
तभी जाना,
माँ को सिर्फ़ 'माँ' नहीं समझा जा सकता।
जो मुझे जन्म देती है —
वो ख़ुद को
पूरी उम्र बस 'माँ' समझती है।

*****

38.

लाख रुपए का सोफ़ा,
अस्सी हज़ार का पर्शियन कालीन —
वो इसकी क़ीमत बताते नहीं थकते,
और बात-बात पर
हमें जताते रहते हैं…
कितना कीमती है ये सब।
पर ज़ुबान से
ज़हर उगलते हैं,
दिल पर तीर चलाते हैं —
और अगर वो दिल
टूट भी जाए…
तो कहते हैं —
"चलो, मुफ़्त में तो आया था!"
आँखों से आँसू गिरे,
गालों पर निशान पड़े —
पर कोई परवाह नहीं।
क्योंकि इंसान की कीमत
सिल्क की बुनावट से कम है।
पर कालीन?
हाय! कालीन पर
अगर चाय की एक बूँद भी गिरे —
तो घर में
नई महाभारत छिड़ जाती है।

वो जिन्हें इंसान की तकलीफ़ नहीं दिखती,
पर परदे की सिलवट से बेचैन हो जाते हैं —
इन्हीं सभ्य चेहरों के नाम
ये कविता समर्पित है।

*****

39.

मेरी उपलब्धता का मतलब
ये नही मैं खाली हूं
मै व्यस्त हूं
पर तुम प्राथमिक हो
हम रिश्तों को जानते है
अपना मानते है
भीड़ में भी
रिश्तों को पुकारते है
हमे बातूनी न समझना
हम रिश्तों में
बातो की चाशनी डालते है
तुम हंसो
इसलिए कभी कभी
अपनी ही खिल्ली उड़ाते है
मुझे फर्क नही
जब कोई न मिले
हमे ,समय काटने का विकल्प बनाते है
हम व्यस्त लम्हों से
कुछ क्षण चुरा लेंगे
बिन शोर किए रिश्तों में प्यार बड़ा लेंगे
यूं तो प्रयास दोनो ओर से जरूरी है

तुम ना भी करो
माना हम विकल्प है पर तुम्हे प्राथमिक बना देंगे

*****

40.

मेरा घर — मेरा देश है।
मैं ही प्रधानमंत्री,
पति — राष्ट्रपति,
बच्चे — मेरा निजी निर्वाचन क्षेत्र।
मायके वाले — मेरी पार्टी की सरकार वाला राज्य,
सास-ससुर — विपक्ष शासित राज्य,
और नंद-देवरानी —
विपक्ष शासित केंद्र-शासित प्रदेश।
मैं सुबह उठते ही
राशन की संसद चलाती हूँ,
रात में दूध-बिस्किट की
वोटिंग करवाती हूँ।
किचन मेरी सचिवालय —
और गैस सिलेंडर...
वो गठबंधन की डोर है,
जिसे कोई नहीं छेड़े तो अच्छा है।
अब सुनिए असली संकट —
मेरे बाग में आम पके हैं,
कल से बांटने हैं।
कैसे बांटूंगी —

आप समझ ही गए होंगे।
क्योंकि नंद-देवरानी के लिए तो —
दिल्ली अब भी दूर है!

*****

41.

ताले और चाबियाँ सब जंग खा रहे,
बंद कमरों में लॉकडाउन मनाए जा रहे हैं।
कितने किवाड़ खुलते जा रहे हैं —
फिज़िकल डिस्टेंसिंग है,
पर दिल कितने पास आ रहे हैं।
वो कैसे गुनगुनाते हुए सब कर जाते हैं,
और शाम को जितना भी थक जाएँ,
तुलसी के चौबारे में दिया जलाते हैं।
दो महीने और लॉकडाउन का सीक्वल,
किचन अब फरमाइशी गीतों का कार्यक्रम नहीं रहा।
मेरे हर नाप-तोल, उसके चुटकी भर अंदाज़ से मात खा जाते हैं।
घर में काम ही क्या होते हैं —
कभी होदी में भरे बर्तन,
कभी तार पर सूखते कपड़े मुझे बताते हैं।
राजमा में कितनी सीटियाँ लगती हैं,
मसूर की गुलाबी दाल कैसे रंग बदलती है।
रोटी बेलने के लिए पापड़ बेलने पड़ते हैं,
और हर पापड़ के भी अनेक अंदाज़ होते हैं।
किचन के काम में अक्सर टूटे बर्तन चुभ जाते हैं,
कुछ जलता है, तो कभी तेल की छींटों से फफोले भी पड़ जाते हैं।
हर बार आँख में प्याज़ के आँसू नहीं होते,
नानी यूँ ही याद नहीं आती।

जो घर का काम अपने आप यूँ ही हो जाता है,
नानी याद दिलाती है —
कि घर के काम कभी नहीं थकाते।
कोने में लगे जाले,
दिल पर पड़ी धूल
ना जाने कैसे शाम तक उतर जाते।
बचपन की दो महीने की गर्मियों की छुट्टियाँ,
इस लॉकडाउन में याद आ गईं।
एक शर्मिंदगी —
हर उस इंसान को सोच, आ गई,
जो घर के अंदर,
या बाहर से आकर
हमारा घर चलाते हैं।
या घर के अंदर ही हैं —
थकते भी हैं,
करते भी रहते हैं सब,
पर कभी कोई रविवार नहीं मानते।

*****

42.

अगर
रात के घने अंधकार में
मैं अपना रास्ता चुन लेती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर ,सब मुझसे नज़रें चुराते हैं,
और मैं,अपने भीतर के विश्वास को आँखों में रख
नज़रें उठा लेती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर,शक्तिहीन को क्षमा कर
शक्तिशाली से सवाल कर जाती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर
विजय रेखा से पहले गिरकर
फिर उठकर खड़ी हो जाती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर जंगल की आग में
शीतल बयार बन
मुस्कुरा जाती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर विजय और पतन के बीच
मैं 'एकला चलो रे' गा लेती हूँ —
तो मैं हूँ।

अगर
अपनी ही हार के बाद
फिर से मैदान में उतर आती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर
मन की न हो
फिर भी उसे वरदान मान
दीया जला देती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर
कंटीले रास्ते पर
नंगे पाँव चल पड़ती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर
कुरुक्षेत्र में
अस्त्र झुका
हर शस्त्र गिरवा
श्वेत पताका लहरा देती हूँ —
तो मैं हूँ।
अगर
'मैं' को परे रखकर
हर बार झुक जाती हूँ —
तो भी मैं हूँ।

और अगर
मैं जानती हूँ
कि तुम हो —
तो मैं हूँ।

*****

43.

अबकी जो फोन करूं तो उठा लेना
कुछ अपनी कहना कुछ मेरी भी सुन लेना
पता है ?
नसीहत नहीं दूंगी
मास्क से मुंह छुपा है पर
दिल खोल कर सब कहूंगी
ना सरकार को कोसूंगी
ना सिस्टम पर ठीकरा फोड़ूंगी
मै बस तेरी सुनूंगी और अपनी कहूंगी
जो हंस रहा है वह भी कुछ बेहाल सा है
शायद थोड़ा नहीं,
तुझसे थोड़ा ज्यादा परेशान सा है
समझता वक्त और हालात को है
इसलिए मुस्कुराता हर हाल में है
प्राणायाम अनुलोम विलोम की बात नहीं करूंगी
तेरे खासने नहीं पर
स्टीम ली या नहीं, नही कहूंगी
तेरे कान में वह भूला सा
थर्ड क्लास जोक कहूंगी
थोड़ी चुगली करूंगी और
नारी होने मान रखूंगी

ना डरूंगी न तुझे डरने दूंगी
आक्सीजन नही है तो क्या
अपनी बातो से सांसों को नया आयाम दूंगी
आओ ना कुछ बात करें
हर तरफ की बातो से दूर
बस वक्त को अपनी छिछोरी बातो से बर्बाद करें
तुम कुछ न सोचना
बस मुझे पगली कहना
बकर बकर सुनना
मुंह पर लगाम लगाने को कहना
बोर खूब करूंगी
दिमाग़ का दही करूंगी
तू भी खूब फेंकना
पर सच
अपने मन की कहना
मै मुस्कुराते हुए सब सुन लूंगी
वक्त ही वक्त तुझे दूंगी
गाली दे दोस्त का फर्ज पूरा करूंगी
बस मैं फोन करूं तो तुम उठा लेना
मन की सुनना
मन की कह लेना

*****

44.

जब भी वो ज़िद करती है,
बाज़ी पलट जाती है।
उसकी माँ भी ज़िद करती थी,
जब काली रात होती थी —
उसे अपनी सुबह शुरू करने की ज़िद होती थी।
माँ कहती थी:
"ज़िद अच्छी होती है,
जब नीयत सच्ची होती है।"
उसने भी ज़िद ठान ली है —
मंगल पर पानी ढूंढ़ने वालों से पहले
वो लछमी के बंजर गाँव में
पानी का सोता खोजेगी।
लछमी का बेटा भी ज़िद करता है,
स्कूल बंद होने पर रोता है,
स्कूल जाने की ज़िद करता है —
क्योंकि वहाँ पेट भर खाना मिलता है।
वैसे, आजकल वो गणित में फेल हो जाता है,
उसे सिखाया गया था कि रोटी गोल होती है —
पर लॉकडाउन ने उसके वृत्त को
अर्धवृत्त में बदल दिया है।
ना आधार कार्ड है,
ना राशन कार्ड —
फिर भी लछमी,

फ़ोन पर मौजूद हर आँकड़े में
उम्मीदें जोड़ती जाती है।
वो पशोपेश में रहती है —
आख़िर क्यों हर दवा
खाली पेट नहीं ली जा सकती?
इसलिए वो ज़िद करती है —
इन चाँद पे जाने वालों को
रोटी का मोल बताएगी।
आँतों से चिपकी हड्डियों को
रोटी में चाँद दिखाएगी।
शायद उसकी कहानी अधूरी सी लगती हो —
क्योंकि लछमी के
एक रुपये के सपने पूरे होने में
हमेशा चव्वनी भर की कमी रह जाती है।
पर वो फिर भी ज़िद करती है —
कुछ न हो पाया तो
एक मील के पत्थर पर
"ज़िद अच्छी है"
लिखवाएगी।
ज़िद की पक्की है —
लछमी की लक्ष्मी बनाएगी।
नीयत सच्ची है —
उसे खाने के बाद की दवा,
अच्छी है —
ये सिखाएगी।

*****

45.

लॉकडाउन तो बस नाम का है,
सूरज रोज़ पहली किरण के साथ
इस नियम को धता बता जाता है।

हर आम की बौर
हर शाख पर खिल उठती है —
कभी चुलबुली होकर
धरती की चुनरी में बिखर जाती है।

हरे पत्तों में छुपा सुनहरा पंछी —
कभी राग मल्हार गा
बादलों को बुला लाता है,
कभी पंख फड़फड़ाकर
आशाओं का नया राग रचाता है।

ये बारिश भी कैसी शरारती है —
शोख बूंदें बंद खिड़की को
चुपचाप खटखटाती हैं।
लॉकडाउन क्या भावनाओं पर है?
नहीं — तभी तो
ये बूंदें चुपके से
गालों को छू जाती हैं।

एक कोशिश अपनी भी हो जाए —
उसके लिए जो सहमा सा है,
हर छींक पर
ऑक्सीजन लेवल नापता है,

हाथ में थर्मामीटर लिए
हर खबर से कांपता है।
उसके डर पर
हम लॉकडाउन लगाएं —
हर सांस पर
"जियो" का कोई साज बजायें।
पासबुक की ब्याज दर छोड़ दें,
चवन्नी-अठन्नी की गुल्लक तोड़ें —
भावनाओं और प्यार के
इंवेस्टमेंट का इंटरेस्ट बढ़ाएं।
लॉकडाउन रिश्तों पर नहीं है,
इंसानियत पर नहीं है —
किसी पगले से अपने को समझाएं,
बिना कहे ज़्यादा समझें,
मुस्कुराकर
बस एक हाथ बढ़ाएं।

*****

46.

वक्त से बड़ा कोई जादूगर नहीं होता,
हम सोते हैं — पर वो नहीं सोता।
माना, आज सब कुछ ठहरा हुआ है,
पर वो फिर भी चुपचाप चलता रहता है।
सच कहूं —
संयम रखो थोड़ा,
ये वक्त भी गुजर जाएगा।
9 से 5 की
आपाधापी में
फिर से हम उलझ जाएंगे,
मेट्रो की भीड़ में
राजीव चौक पर
ना चाहते हुए भी
खुद को उतरते पाएंगे।
हाँ, ये वक्त भी गुजर जाएगा।
बंद कमरों में छटपटाता
वाचाल बचपन —
फिर उन्मुक्त शावक बन
गली में दौड़ेगा।
बुढ़ापा भी
बहू-बेटों की चौपाल में
फिर से चुगलियाँ लगाएगा।
ये वक्त भी गुजर जाएगा।

बंद पड़े सिनेमा के दरवाज़े
फिर खुलेंगे,
कोने की सीट पर
यौवन अटखेलियाँ करेगा।
घरों में फिर
"मैं मायके चली जाऊंगी"
आकाशवाणी से ज़्यादा बजेगा।
हाँ, ये वक्त भी गुजर जाएगा।
ना कोई मुंह छुपाएगा,
ना छूने से डर पाएगा।
डॉक्टर और पुलिसवाला भी
घर लौटकर
अपने बच्चे को
गोद में उठाकर चूम पाएगा।
ये भी — हाँ — गुजर जाएगा।
मेरा बच्चा, जो दूर बैठा है,
टिकट हाथ में लिए
मजबूरी में बैठा है —
एक दिन यूरोप पास ले
रोम घूम आएगा।
इमिग्रेशन पार कर
राखी मेरे ही घर मनाएगा।
हाँ... ये वक्त भी गुजर जाएगा।

*****

47.

गर्मियों से बचपन का अबूझ नाता है —
बस्तों को आराम दे,
लंगड़ा आम हाथ में दे,
लंगड़ियाँ खिलाता है।
जून की दोपहरी यूँ तो लंबी होती है,
इस बरस अलसाकर और भी लंबी हो गई है।
सुबह मुर्गे की बाँग से पहले आ जाती है,
सूरज घर चला जाता है —
ये मुँह चिढ़ाती है।
परदे लगे हैं फिर भी
कमरों में पसर जाती है।
मेरे पैर बंधे हैं —
मेरे नन्हे पोते को सताती है।
हर बार इशारा कर बाहर बुलाती है।
वो काबुलीवाला
किताबों में छिप गया है।
पत्थर तोड़ती का
हथौड़ा भी रुक गया है।
ओह दोपहरी —
छोड़ दे सन्नाटे से अपनी दोस्ती।
देख, बचपन कैसे
दरवाज़ों के पीछे सिमट गया है।
परछाइयाँ खो गई हैं,

सूरज भी अकेले डर गया है।
उसका पसीना बारिश बन
बिन मौसम बरस गया है।
जामुन का पेड़ सोच में है —
फल दूँ या न दूँ?
छोटे-छोटे हाथों से पड़ते
पत्थर को वो तरस गया है।
इतना घमंड न कर दोपहरी,
मैंने खिड़कियों के नए शीशे लिए हैं —
वो नटखट गेंद से तोड़े,
दरवाज़े भी शीशों के किए हैं।
पुराने बस्तों में
तेरी शिकायतों के पुलिंदे रख दिए हैं।
कुछ नहीं —
तू इस साल खूब चमक ले।
अगले साल का वादा है —
मिनी फिर दोपहरी में
काबुलीवाले के पीछे आएगी।
निराला की तांबई नायिका
तुझे हराएगी।
परछाइयाँ फिर से भीड़ बन जाएँगी।

*****

48.

वो सौ रुपये की दिहाड़ी में
आजकल कुछ समझ नहीं पाता है।
२५ रुपये का आटा ले तो
चप्पल के बिना कांटा चुभ जाता है।
किसी ने कहा —
अगर कोरोना हो जाए,
तो सरकारी सेंटर में
तीन वक़्त पेट भर खाना मिल जाता है।
बिना मास्क के अलमस्त घूम रहा है,
बदकिस्मत कह रहा है खुद को —
क्योंकि जितने भी टेस्ट कराए,
कमबख्त हर बार नेगेटिव ही आता है।

*****

49.

तुम सूरज हो — हमें किरणें बना लेना,
बरगद की छाँव हो — हमें अपनी पात बना लेना।
ऐ खुदा,
कभी मिलो तो हमें भी
दोस्ती क्या है — ये समझा देना।
शायद,
जब समय की धारा थम सी जाती है,
ऐ दोस्ती, तेरा नाम ही जुबां पर आता है।
जो स्वर्ग से नहीं उतरते,
खून के रिश्तों में जिनका नाम नहीं होता —
ज़िंदगी के पथरीले मोड़ों पर
जो संग आ जाते हैं —
वही शायद दोस्त कहलाते हैं।
मैंने यूँ ही किसी से पूछा,
"दोस्त कौन होते हैं?"
उसने प्यार से कहा,
"हमसफ़र दोस्त होते हैं।"
मैंने मुस्कुराकर कहा,
"पर दोस्तों में तलाक नहीं होता —
तो क्या हमसफ़र दोस्ती नहीं रखते?"
फिर एक नवयुवक बोला,
"माता-पिता ही सच्चे दोस्त होते हैं।"
मैं फिर मुस्कुराई —

"पर वो कैसी दोस्ती है
जो उन्हें ओल्ड ऐज होम पहुँचा देती है?"
किसी ने कहा —
"भाई-बहन दोस्त होते हैं।"
मैंने तंज कसा,
"तो फिर वसीयतों वाले मुक़दमे
किस रिश्ते की नुमाइंदगी करते हैं?"
इस ब्रह्म प्रश्न के उत्तर में
मैं भी एक नचिकेता बन गई।
यमुना किनारे गई —
कृष्ण-सुदामा की मिसाल सुनी।
पर शत-नमन करते हुए कहा —
"जो बिना कहे सब समझ जाए,
उसका दोस्त फाके में कैसे रह जाए?"
सरयू किनारे सुग्रीव की कथा चली।
"दोस्ती रिश्तों को जोड़ती है,
उसमें खून नहीं बहता।"
मैंने सोचा —
शायद 'शोले' वाला सिक्का
दोस्ती निभा जाता।
जेब में सालों रखा,
दोस्त तो बने — पर दोस्ती न मिली।
थक गई थी —
सोचा, बहुत मुश्किल है दोस्ती को पहचानना।
अपने आप से भी झूठ बोला,
खुद को ही दोस्त बना लिया —
पर वो भी सच न हो पाया।

सर फटने लगा,
किचन में जाकर चाय चढ़ाई।
अपने सबसे प्यारे प्याले में उसे डाला।
पहली ही चुस्की ने
मुझे अश्वत्थामा बनने से रोक लिया।
मैं यायावर थी —
पर दोस्ती मुझे इस चाय में मिल गई।
सवाल करती लैला,
अब एक प्याली से मजनूं बना दी गई।
सुबह आंख खुलते ही तुम साथ निभाती हो,
रात भर जगाकर दोस्ती निभाती हो।
जब आंखों में मोम पिघलता है,
तुम मेरे दर्द में सर्द हो जाती हो।
जब दुख बढ़ता है,
तुम होंठों को छू जाती हो।
कभी कड़क, कभी नरम,
हर रूप में साथ निभाती हो।
कभी कुल्हड़, कभी ग्लास, कभी बोन चाइना में
हर बार नया अंदाज़ लाती हो।
कुछ नहीं कहती —
पर हर चुस्की में सब कुछ कह जाती हो।
तुम ही तो हो —
जो हर मौसम, हर मूड, हर पल में
सच्ची दोस्त बन जाती हो।

*****

50.

सोचा था तुम मेरा उद्धार करोगे
जो मैं न बन पाई सीता
क्या तुम मेरे राम बनोगे ?
सोचा था तुम मेरा उद्धार करोगे
शिला बनू
रास्ता न ताकूँ
चरणों की धूलि को भूल स्वयं तरू मैं
क्या मेरे उन्मुक्त गगन में
शीतल पवन बयार बनोगे
सोचा था तुम मेरा उद्धार करोगे
तृप्त रहूँ
पर न शबरी बन भोग लगाऊं
गरल तुम्हे दूँ ,अमृत का बस पान करूँ मैं
क्या मेरी पीड़ा
और दुखो का संहार करोगे
सोचा था तुम मेरा उद्धार करोगे
बनो सुहाग
पर माथे पर न तुम्हे सजाऊँ
तुम बन जाँऊ मैं
और मैं ,तुम बन ---अंकुश हो जाऊं
ह्रदय रहें भ्रमित

तो
क्या मेरे रूखे होठों का शृंगार बनोगे
सोचा था तुम मेरा उद्धार करोगे

*****

51.

उर्मिला   फिर व्यथित है
अनायास उसे महलो में एकांत वास करना पड़ा
स्वामी लक्ष्मण, भ्रात प्रेम में
और भगिनी सीता प्रणय बंधन में अभिभूत
१४ बरस संग हो लिए
उर्मिला तो इसे भी विवाह की रीति मान बैठी थी
जिसमे बड़ी बहन को पति स्निग्धय
और अनुजा को महलो में वैराग भोगना होता है
१४ वर्ष उसका अज्ञात वास ही तो था।
उर्मिला अपने नव भूषण और श्रृंगार में मग्न थी
वृक्षों पर अटखेलियां भी करती थी
भरत और शत्रुघन के कक्ष में
अनुजा,- द्वार को किसी की प्रतीक्षा के लिए नहीं
उर्मिला के प्रस्थान के लिए तकती थी
उर्मिला तब भी व्याकुल होती थी

उर्मिला आज शंकित है
सिंदूर की रेखा के समक्ष एक सफ़ेद रेखा देख
वो बार बार अपने कान और नाक पर हाथ लगाती है
बनवास में कैसे मीनाक्षी , अभिरूपा से शूर्पणखा बनी
और मै एक महिला के अंगभंग पर तुम्हारे विजय गान में अभिभूत हूँ ?

उर्मिला अनुत्तरित है
तुम एक कोलाहल हो , कितना शांत था मेरा एकांतवास
जाने किस पीड़ा मे पल्लू मे बंधे चौदह वर्षो को खोल रही हूँ
क्या मुझे प्रश्न का अधिकार है ?
मै प्रणय बद्ध नहीं हूँ ?
प्रतिक्षा रत थी, तो क्या मै पतिव्रता नहीं हूँ?
अपने अंतर् मे अंकुरित प्रश्नो से परेशांन हूँ ?

सुना था संजीवनी हर मूर्छा को दूर कर देती है
तुम कक्ष मे प्रवेश करो
तुमसे बिखरती संजीवनी की गंध
मुझमे उत्पन्न इस वितृष्णा की मूर्छा को हर ले
मै हर वनवास की पीड़ा को भूल
सोलह श्रृंगार कर कल्पना से दूर सत्य को वरण करूँ
मुस्कुराऊँ
क्योकि उर्मिला वनो मे नहीं
महलो मे भी बनवास करती है
यथार्थ मे रहती है
सतयुग से कलयुग तक
हर नारी मे एक उर्मिला जीती है

*****

52.

हिंदी सिर्फ हिंदी दिवस पर बोली जाती है
वर्ना तो हिंदी बोलने वालो की खिल्ली उड़ाई जाती है
हिंदी की हालत बिलकुल उस गृहिणी और माँ सी है
जो अक्सर घर की मुर्गी है पर दाल बताई जाती है
वैसे तो हिंदी एक अच्छा संयुक्त परिवार है
बाराह खड़ी "अ" अनपढ़ के स्वर को सहारा देती है
और "ज्ञ" ज्ञानी बना व्यंजन परोस देती है
पर आजकल संयुक्त परिवार काम ही रास आते है
यूँ तो हिंदी की बिंदी की धज्जियां उड़ाई जाती है
शादी की पोशाक जैसे सम्हाल कर रखी जाती है
और कई सालो में सिर्फ बड़े समारोह में नज़र आती है
जैसे चोट लगने पर माँ ही याद आती है
जब दिल पर चोट लगे
बचपन में पढ़ी वर्णमाला याद आ जाती है
मातृ भाषा यूँ ही नहीं कहलाती है
माँ सा प्यार देती है
तभी लोरी हिंदी में सुनाई जाती है
मैंने आज फिर पुराना संदूक खोला है

माँ के माथे की बिंदी को हिंदी से जोड़ा है
प्रेम किसी से भी हो स्वयं को पहचान लो
देर न हो जाये
माँ , बिंदी और हिंदी को सम्हाल लो

*****

53.

कुछ नखरीली, कुछ सजीली —
ऐसी होती हैं औरतें।
रात को भी लोरी सुना,
सुलाती हैं औरतें।
भोर के तारे को
चूड़ियों की झंकार से जगाती हैं ये औरतें।
घड़ी की सुइयों से आगे
समय बढ़ाती हैं ये औरतें।
सबकी फरमाइशों को
अपना बनाती हैं औरतें।
पूरा न कर पाने पर
ख़ुद पर नाराज़ हो
आँसू बहाती हैं ये औरतें।
मेट्रो की पिंक लाइन के संग
भागती हैं ये औरतें।
किसी कोने में, शीशे में
ख़ुद को देख
चुपके से बाल सँवारती हैं ये औरतें।
ऑफ़िस में कभी डाँटती हैं,
तो कभी डाँट खाती हैं औरतें।
चुपके से काजल साफ़ कर
ख़ुद को दिलासा देती नज़र आती हैं ये औरतें।

हर माह के दर्द में भी
मुस्कुराती हैं औरतें।
किसी के इंतज़ार में
हर रोज़ करवा चौथ मनाती हैं औरतें।
अपने ही घर में
किरायेदार कहलाती हैं ये औरतें।
अपने नाम में
अनजान नाम जोड़
अपनी पहचान छुपाकर
ख़ुश हो जाती हैं ये औरतें।
बिना बात, न चाहते हुए भी
देवी बनाई जाती हैं ये औरतें।
सच —
बड़ी प्यारी,
बड़ी निराली होती हैं ये औरतें।

*****

54.

अहम और प्रेम का युद्ध घमासान है —
अहम बोलता है, प्रेम सुनता है।
अहम लेता है, प्रेम देता है।
अहम स्वार्थ है, प्रेम त्याग।
अहम गांधारी है — अंध प्रेम में बंधा,
प्रेम कर्ण है — निस्वार्थ, वीर, सच्चा।
अहम दमन है, प्रेम निर्माण।
अहम हिटलर है, प्रेम महात्मा।
अहम तोड़ता है,
प्रेम हर टुकड़े को जोड़ता है।
अहम अविश्वास है,
प्रेम पूर्ण विश्वास।
अहम बवंडर है,
प्रेम मौन की साँस।
अहम विषबेल है — सब कुछ लील जाती है,
प्रेम बरगद है — छांव भी देता है, जड़ भी जमाता है।
प्रेम रिश्तों की कोपल है,
अहम उन्हें सूखा डालता है।
हम विजेता बनकर भी हार जाता है,
प्रेम पराजित होकर भी
दिलों का सम्राट बन जाता है।

*****

55.

किसने कहा भगवान एक है,
किसने कहा इंसान एक है?
सच बस इतना है—
शैतान हर जगह एक जैसा रहता है।

वह न मंदिर, न मस्जिद, न गिरिजाघर देखता,
न मजहब, न धर्म के आगे रुकता।
बस लहू की भाषा में बोलता है,
और अपनी पहचान शैतानियत से करता है।

सरहदों के पार भी शैतान, शैतान ही कहलाता है,
पर इंसानियत की बात आते ही दंगा क्यों भड़क जाता है?
उस पार का शैतान, इस पार के शैतान को भाई कहता है,
ऊपर वाला भी सोच में पड़ जाता है।

क्यों अल्लाह और भगवान को
पत्थरों के घर में कैद कर दिया गया?
क्या दुनिया के शैतान बन जाने से
सरहदें मिट जाएंगी?
क्या उस पार के फाख्ता कबूतर बन जाएंगे?
क्या 'लव जिहाद' के नाम पर नफरत करने वाले
प्यार की नदियाँ बहाएंगे?

क्या ताबीज़ पर राम खान लिखा जाएगा?
क्या मंदिरों में फातिमा शर्मा को
नंदी के फेरे लगवाया जाएगा?

सवाल फिर वहीं खड़ा है—
नामकरण में अख्तरी बानो क्यों नहीं हो सकती?
अक़ीका में लक्ष्मी कुमारी क्यों नहीं आ सकती?
पर नामकरण हो या अक़ीका,
शैतान बस शक्ल बदलता है, मिज़ाज नहीं

*****

56.

हर बंद दरवाज़े के पीछे कोई कहानी होती है,
कभी रूमानी, कभी रूहानी होती है।
कभी उच्छृंखल, तो कभी ठहरे हुए पानी-सी होती है।
कुछ पायदानों पर बचपन की धूल जमी होती है,
तो कुछ खिड़कियों से झांकती धूप थमी होती है।
कभी गर्म तेल में तड़की लाल मिर्च की धूनी,
तो कभी उबलते दूध पर जमी मलाई होती है।
दरवाज़े हर दस्तक पर खुलें — ये ज़रूरी तो नहीं,
पर बिना दस्तक भी कभी-कभी खुल जाना — असंभव भी नहीं।
अंदाज़-ए-बयां कुछ ऐसा हो
कि हर कहानी में हिस्सेदारी सी हो जाए —
आँसू तुम्हारे हों, पर आँख किसी और की भी भर आए।
दर्द उसका हो, मगर धड़कनें तेरे सीने में समा जाएँ।
होंठ तुम्हारे हों, और मुस्कान उसकी खिल जाए।
सपनों-सा लगता है ये सब —
पर चलो, कुछ ऐसा कर जाएँ —
एक दरवाज़ा खुले…
और हर सपना
हकीकत बन जाए।

*****

57.

कंक्रीट के इस शहर में दरवाज़े हैं तमाम,
कुछ पहचानते हैं, कुछ बस जानते हैं मुझे।
पर एक खिड़की है, कुछ खास सी—
जैसे उसी पर मेरा नाम लिखा हो।
हर सुबह और हर शाम,
मेरी माँ वहीं बैठी मेरी राह तकती है।
यूँ तो चश्मे का नंबर बढ़ गया है उसका,
पर मसलकर आँखें,
हर बार इस ओर झाँकती है।
कभी धूप में आँखें मिचमिचाकर,
तो कभी अंधेरे में मन टटोलकर—
मुझे देखने की आदत
अब भी नहीं छूटी उससे।
डरती हूँ...
कहीं किसी रोज़ वो खिड़की बंद न मिले।
इसलिए—
हर दरवाज़े की ओर देखते हुए,
मैं खुदा से
उस खिड़की की सलामती माँगती हूँ।

*****

58.

भूलने की आदत कुछ ऐसी डाल लो,
ठेस लगे तो कपड़ों की धूल-सी झाड़ लो।
क्या कहा, क्यों कहा, कैसे कहा—
इन सवालों को कचरे के ढेर में डाल दो।
कुछ तो प्यार दिया होगा,
बस उसी तिनके का सहारा ले,
प्रेम की नैया पार निकाल लो।
कभी इस्त्री ले हाथ में,
और दिल की सलवटों पर फेर दो।
नाक रिश्तों में इतनी ऊँची मत रखो,
कि कैंची चलानी पड़ जाए।
कुछ दाग रिश्तों को और गहरा बनाते हैं—
थोड़ी-सी नाक कम हो जाए,
तो प्यार बढ़ जाता है।
कभी तो यूँ भी कर लो—
गलती न भी हो,
तो भी मुस्कुराकर गलती मान लो।
ये लम्हा फिर लौटकर न आएगा।
चलो, उठो—
किसी रूठे को गले लगाओ,
और बाँहों में पूरी दुनिया समा लो।

*****

59.

मई महीने का दूसरा रविवार,
पुराने संदूक एक बार फिर खुल जाते हैं।
एल्बम टटोली जाती है,
"मेरी माँ की फोटो, तेरी माँ की फोटो से ज़्यादा ममतामयी होनी चाहिए!"
ये कैसी होड़ लग जाती है?
माँ भी परेशान सी हो जाती है,
सोचती है—ये साज़िश रची तो रची किसने?
कौन सा कानून है जो कहता है—
"मदर्स डे पर फोटो पोस्ट करना अनिवार्य है?"
कभी उस फोटो वाली से पूछा—
"माँ, तूने आज क्या खाया?"
"कौन सी सब्ज़ी पसंद है?"
सालों बीत गए,
पीला रंग मुझे बहुत पसंद था,
पर हर साड़ी हरी या नीली ही मिली।
मुझे समझ नहीं आता—
मैं बच्चों के लिए किरायेदार हूँ
या बच्चे मेरे लिए मेहमान हैं?
मेरे लिए तो हर दिन एक जैसा ही है।
नौ महीने मेरी अपनी इच्छा थी,
तुम्हें दुलारना मेरा सुख था,
तुम्हारी हर ख्वाहिश पूरी करना मेरा कर्तव्य।

अगर ये सब कानून में लिखा होता,
तो शायद 18% GST तो लग ही जाता।
हर 31 मार्च को मदर टैक्स भरा जाता।
मैं तुम्हारी अटखेलियों को TDS मान लेती थी—
कटता रहा, बिना शिकायत के।
जानती हूँ, मेरे फर्ज़ का कोई टैक्स
तुम कभी चुका नहीं सकते।
मेरे बच्चों,
सिनेमा, पार्टी, ऑफिस, नाती-पोतों के बीच
तुम्हें वक्त नहीं मिलता होगा।
तो अगर कभी
मेरे कॉल "Missed Call" में दिखें—
समझ जाना,
मैं बस जानना चाहती थी—"तुम कैसे हो?"
प्रिय बच्चों,
क्या एक वादा करोगे?
आज के दिन,
कहीं मेरा फोटो पोस्ट नहीं करोगे?
जितनी देर एल्बम में मेरी फोटो खोजते हो,
उतनी देर नहीं,
बस दो मिनट…
आज… मुझसे बात करोगे?

*****

60.

पहले हर वक्त मिलने के बहाने ढूंढते हैं,
ना मिलें तो रूठते हैं।
अब हल्का-सा अहसास भी भारी लगने लगा है,
हर पल "स्पेस" ढूंढते हैं।
स्पेस दिल में ढूंढो,
अगर स्पेस रखना ही है,
तो बातों की कड़वाहट में रखो।
जितना करीबी रिश्ता होता है,
उतना ही "स्पेस" माँग—
उसका गला घोंटता है।
इस "स्पेस" को
एक कारण बताओ नोटिस भेजो!
पुराने ऐलबम में देखो,
जहाँ बाँहों में बाँहें डाल
बिना मिलीमीटर गैप के बैठे थे।
जब ग़ुस्से में मुँह सिकोड़,
उनके मनाने पर
हर दूरी मिटा
काँधे पर झूल जाते थे—
वो भी तो "स्पेस" था!
यादों की गाँठ में बाँधो उन्हें,
या कलाई पर टैटू बनाओ।

दर्द के बाद दर्द को
थोड़ा "स्पेस" दो।
रिश्ता बोझ लगे,
तो एक खिड़की खुली छोड़ देना।
शब्दों में स्पेस रखो,
पर **प्यार के बीच आए स्पेस को तोड़ दो।**

*****

61.

रावण अब जलने से इंकार करता है
सदियों से दश दहण किया ,
अपने अंदर, तू कितने सर रखता है?
बोल, विषैले खाने के ये दन्त कहां से लाता है ,
कहाँ छिपाता है
रावण अब जलने से इंकार करता है
मैं चौपड़ पर दाव लगाता ,
स्वं दाव पर लग जाता
वंशवाद की पट्टी बांधे,
चीर हरण ना करवाता
मेरी चिता की राख़ से जाने
किस अंधे युग का निर्वाण करता है ?
रावण अब जलने से इंकार करता है
राम की आड़ में मुझे जलाता
आग कही तो धधका देते
पुतले जला जलाकर
सर्द दिसम्बर पिघला देते
सतयुग का रावण
कलयुगी रामो का संहार करता है
रावण अब जलने से इंकार करता है

*****

62.

ये मज़ाक नहीं — उनतीस की हूं,
अकेली हूं, मगर अकेली नहीं।
मुस्कुराऊं तो दिल हंसता है,
तुम्हें मगर वो नकाब लगता है।

उफ़... बेचारी मत कहो,
मुझे खुद के लिए सजना, सुकून देता है।
कई रातें बिना सोए गुज़ार देती हूं,
इन आंखों के सायों को थकान मत समझो —
मैं हर रात कागज़ पर गीत रच देती हूं।

इकतीस के बाद भी
इसी नाम संग जी लूंगी —
हाय, तू कितना परेशान है मेरे लिए!
उम्र मेरी है, निकलती है... निकल जाने दे।

ना मैं मीरा, ना मुझे कृष्ण चाहिए।
ज़हर नहीं पीना मुझे —
मैं जीवन पीना चाहती हूं।

पैंतीस की हुई —
अब तुम क्या करोगे?
कितने नामों से मेरा नामकरण करोगे?
मां के कानों में कब तक बुदबुदाओगे?

सच बताओ —
तुम व्यथित हो, या बस मोहल्ले में पर्चे उड़ाते हो?
मैं अमृता नहीं सही —
पर इमरोज़ कहीं तो होगा,
जो घर की दीवारों पर
मेरा नाम, मेरी शक्ल उकेरेगा।

चालीस की हो जाऊंगी —
इमरोज़ न भी आया,
तो खुद अपनी इमरोज़ बन जाऊंगी।

मेरा मेरे लिए जीना
तुझे क्यो इतना कचोटता है?
तू बता —
किस कुंठा में है तू,
जो हर अविवाहित स्त्री को
हर उम्र में टटोलता है?

*****

63.

अंधेर नगरी वाले भारतेंदु की धरोहर में
बहराइच के शौक़ का तंज मिलाया गया —
'बर्बाद गुलिस्तां करने को
हर शाख़ पे उल्लू बैठा है'

पर सोचो —
क्या हर बार दोष उसी पर मढ़ा जाए
जो बस बोलता है,
उस अंधेरे में जहां इंसान मौन हो जाए?

ज़मीर बिके हुए हैं,
एक शाख को भी तरसते हैं —
ख़ामख़्वाह ही उल्लुओं को
बरबादी का जामा पहनाते हैं।

उल्लुओं की बिरादरी में
अब शेर पढ़े जाते हैं इंसानों पर,
हर दरबार में धृतराष्ट्र बैठा है —
जो दिन के उजाले में भी अंधा है।
गुलिस्तां हमने खुद उजाड़ा
और ठीकरा बेज़ुबान पर फोड़ा।

चौपट राजा अमृत पीता है,
हर युग में चेहरा बदल कर जीता है।
बड़ी योजनाएं बनती हैं
उल्लुओं को संरक्षित करने को —
और हर फसल
उल्लुओं की ही पकती है।

*****

64.

कभी समता पर, कभी मेरी ममता पर
क्यों सवाल उठते हैं,
क्यों बच्चों को छोड़ काम पर जाती हूं —
क्यों हर बार मैं ही कटघरे में लायी जाती हूं?
मेरा परिचय तेरे शब्दों का मोहताज नहीं,
पर तड़प तब होती है,
जब वजूद पर ही सवाल उठते हैं।
माँ, बहन, बेटी, प्रेयसी, पत्नी से परे —
मैं क्या हूं?
आज मैं खुद अपने "मैं" से तुझे परिचित कराती हूं।
मुझे गर्व है —
मैं सीता की धैर्य, झांसी की ज्वाला,
और पन्ना धाय की निस्वार्थ छाया से बनी हूं।
तू पत्थर जोड़ हवेली बनाता है,
मैं मुस्कान से उन्हें घर बनाती हूं।
राम हो या गौतम —
मेरे अंश से जन्मते हैं।
मेरे आंचल की छांव को ही
दुनिया "संसार" कहती है।
मैं त्याग करती हूं —
क्योंकि हर रिश्ते में
बिना शर्त प्रेम करती हूं।
पर त्याग को कभी मेरी कमजोरी मत मानो,

हर महीने रक्त बहाकर,
मैं सृष्टि को आकार देती हूं।
मैं लैला हूं, हीर भी हूं —
प्यार करती हूं
तो बस एक कतरा वफ़ा मांगती हूं।
अगर तू प्रेम दिखाए —
तो अग्निपरीक्षा देकर
धरती में समा जाऊंगी।
पर अगर मेरी परछाई को भी ठुकराएगा —
तो दुर्गा बन हर अन्याय का संहार कर जाऊंगी।
अब नारीत्व को ढाल नहीं बनाऊंगी,
ज़रूरत पड़ी तो
रावण के आगे खुद ही राम बन जाऊंगी।
द्रौपदी के रजस्वला केश मत छूना —
मैं चाणक्य सी वंश-नाश की प्रतिज्ञा कर
अब खुद ही कृष्ण का चक्र उठाऊंगी।

*****

65.

विरासतों की वसीयतें भी क्या खूब लिखी जाती हैं —
नाम होता है 'महल',
पर चूल्हा कहीं नहीं जलता।
अगर जलता,
तो शायद
अरमानों के जलते कफ़न को
'ताजमहल' न कहा जाता।
इंसानियत की धज्जियां
सिल्क के परचम में उड़ाई जाती हैं,
ज़िन्दगी फुटपाथ पर सो जाती है,
और संगमरमर के मकबरों पर
सोने की परत चढ़ाई जाती है।
वो कारीगर,
जिसने उंगलियों से ताज गढ़ा,
हाथ कटवाने के बाद
उसकी वसीयत अब भी
पत्थर तोड़ती है।
नाम?
किसी को याद नहीं।
पर वह आज भी पूछता है —
"इतने बड़े महल में,
आख़िर कौन रहता है?"
किसी ने कहा —
"यहाँ दो प्यार करने वाले सोते हैं।"

वह हँसा,
"मेरे अम्मा, बाबा, भाई, भौजी —
सब आपस में बहुत प्यार करते हैं,
पर छप्पर वाले घर में
फिर भी मज़े से रहते हैं।"
"इस महल में तो
मेरा पूरा गाँव बस जाए,
न तूफ़ान से छत उड़ेगी,
न बारिश में बिस्तर भीगेगा।"
शहरों में
कितनी जगह है
मकबरों, पुतलों, मंदिरों के लिए।
प्यार के नाम पर मौत अमर हो जाती है,
पर ज़िन्दा लोग
रोटी, कपड़ा और मकान में
आपस में लड़ जाते हैं।
सवाल यही है —
जब इंसान जिंदा है,
तो मकबरे पहले कैसे बन जाते हैं?

*****

66.

उसने कहा —
ये एंबुलेंस की आवाज़,
सन्नाटे में दिल चीर देती है।
मैंने कहा —
अपनी ज़िंदगी को दाँव पर लगाकर,
किसी को ज़िंदगी की उम्मीद देती है।
उसने कहा —
ना जाने कितने लोग
इन दिनों बीमारी से मर रहे हैं।
मैंने कहा —
कितने ही हैं जो
मौत से लड़कर घर वापस आकर जी रहे हैं।
उसने कहा —
लोग स्वार्थ में डूबे हैं,
किसी के लिए कुछ नहीं करते।
मैंने कहा —
चौकीदार राशन कूपन के लिए कतार में खड़ा है,
तुम ऑनलाइन फॉर्म क्यों नहीं भरते?
उसने कहा —
कितना भी शोर मचाओ,
इस देश का कुछ नहीं हो सकता।
कोई कुछ नहीं करता।
मैंने कहा —

बिलकुल सही —
"कोई" कुछ नहीं करता।
विश्व भी यही कहता है,
हम लोगों का कुछ नहीं हो सकता।
तो फिर...
तुम ही शुरुआत क्यों नहीं करते?

*****

67.

हर साल श्राद्ध से पहले
दादा…
दादी के सपने में आते हैं।
दादी, बहू को पास बिठाकर
बड़ी श्रद्धा से कहती हैं —
"दादा की मनोकामना है,
खीर में काजू ज़्यादा डालना,
सब्ज़ी में पनीर और कटहल ज़रूर बनाना।"
ये बात अलग है कि
अब दादी को नींद कम ही आती है,
और जो आ भी जाए,
तो सपने की सारी बातें भूल जाती हैं।
पर वो जानती हैं —
बहू पितृ दोष से थोड़ा घबराती है,
तो दादा का नाम ले,
अपनी मनपसंद थाली बनवाती है।

*****

68.

जब मैं छोटी थी तब भी सही थी
जब मैं बेटी थी तब भी सही थी
जब मैं बड़ी हुई तब भी सही थी
जब मैं बहू बनी तब भी सही थी
जब मैं मां हुई तब भी सही थी
जब मैं सास बनी तब भी सही थी
सच ही तो है "मैं" कभी गलत नहीं होता
मैं हरदम सही थी, हूं और रहूंगी

*****

69.

ना जाने कब, किसने
इन पहाड़ों पर जनता कर्फ़्यू लगाया था।
हवा साफ़, पानी निर्मल था—
बस किसी अवसरवादी अवसर ने
पलायन का वायरस फैलाया था।
जो गए, वो लौटना भूल गए,
जो कभी ना गए, वो जाना भूल गए।
बातें लाखों लिख डाली,
पर उन पर चलना — सब भूल गए।
मेरे पापा के पापा पहाड़ से थे,
और मेरे पापा भी—
अपने बच्चों को पहाड़ की बेरोज़गारी को, कीड़ा कहते थे।
ये बिच्छू घास अब भी वैसी ही कटीली है,
जिसने छुआ— बस उसी ने ही झेला है।
ना कोई अलादीन का चिराग है,
ना कोई "सिम सिम" वाला राग है।
इस कर्फ़्यू में अगर कोई राम बन पाए—
तो परशुराम का धनुष कौन तोड़ेगा?
कल हमने चिपको आंदोलन में पेड़ बचाए थे—
पर अब जो चीड़ खो रहे हैं,
उन्हें किसने रोपा था?
मैं? तुम? या फिर वो "हम"
जो सिर्फ़ विमर्श में जीते हैं।

अब किसी को तो इन पगडंडियों से चिपकना होगा।
पेड़ तो बचा लिए,
अब वंश-बेलों को फिर से
घरों में बोना होगा।
इस जनता कर्फ़्यू को
अब सचमुच हटाना होगा।

*****

70.

बचपन, सुनहरे परदे पर कमीज़ खोल, चौड़े सीने पर छुरे से उकेरे
"मर्द को दर्द नहीं होता" संवाद में बीता।
मैं सोचती — सच में मर्द को दर्द नहीं होता?
छोटे भाई को ज़ोर से तमाचा मार, पूछती — "दर्द होता है?"
वो जवाब में ज़ोर से शिकायती आवाज़ में रोता।
तब लगा — एक खास उम्र के बाद ही
मर्द और **दर्द** परिभाषित होते हैं।
युवा हुई —
ना जाने कितने लाल गुलाब
और खुशबू वाली चिट्ठियाँ पैरों तले रौंदी।
समझ आया — हर आशिक़ तेज़ाब नहीं होता।
वो भी कभी छुपके, तो कभी दोस्तों के सामने रोता।
पर दर्द नहीं होता है?
कभी नंबरों का बोझ नहीं लिया,
नौकरी से खुद को दूर किया।
गोरे रंग ने भारतीयता की परंपरा को निर्वाह किया,
घरवालों ने खाता-पीता घर देख ब्याहा।
भाई और पिता को माँ के साथ रुलाया,
भाई से पूछा — "दर्द होता है?"
सास-ननद और बहु की कहानी में,
पति बिचारे से मुँह फुलाए रहती।
मायके आ पति रुआंसे से मनाते,
पूछती — "दर्द होता है?"

माँ भी भाई को हरदम कचोटती —
"किसी काम का नहीं है,
शादी भी नहीं होगी
जब तक अच्छी नौकरी नहीं मिलेगी।"
कई कॉम्पिटिशन में भाई को फेल होते देखा,
पूछा — "दर्द होता है?"
और जवाब में खुलेआम रोते देखा।
सहेली के पति को उसके हाथ पीटते हुए देखा,
पूछा — "दर्द होता है?"
वो ज़ोर से चिल्लाया —
"हाँ, होता है!
बचपन से — 'लड़की हो क्या जो रोते हो?'
औरत का सम्मान करो, बराबरी का दर्जा दो — सुना था,
कितना और कब तक सहना है —
किसी ने नहीं कहा था।
बीवी का गुलाम या माँ का लाडला रहा,
पर सच — हर बार दर्द ही सहा।"
हर नारी देवी नहीं होती,
पुरुष भी ज़िम्मेदारी ढोता है — जानवर, वहशी नहीं होता है।
कहता नहीं है किसी से कुछ भी,
क्योंकि बचपन से अहम पाल के बैठा है —
"मर्द को दर्द नहीं होता है"।
अब जाकर समझी —
कोई मर्द अपने पीटे जाने का गद्य क्यों नहीं लिखता?
नारी ही क्यों पीड़ित रहती है?

क्योंकि हर मर्द रुपहले परदे का नायक होता है,
सीना ठोक **"मर्द को दर्द नहीं होता"** कहता है,
पर अकेले में रोता है।
**इंसान है वो भी।
गलत कहते थे सब —
मर्द को दर्द नहीं होता।
सच तो ये है —
मर्द को भी हर बार दर्द होता है।

*****

71.

मेरी आँख छोटी हैं,
कमर कूल्हों से कुछ मोटी है।
रूखे बाल, गाल बेनूर हैं—
सही मायनों में कुछ ऐसा नहीं
जो बेजोड़ है।
कोई कुछ कहे, करे—उम्मीद नहीं रखती हूँ।
ईश्वर ने कुछ सोचकर मुझे ऐसा बनाया होगा,
उस मकसद की खोज में
खुद से बेइंतहा प्यार करती हूँ।
गिरती हूँ, उठती हूँ,
टूट कर हर बार जुड़ती हूँ।
सच कहूँ,
कोई मुझ पर कितना भी हँसे,
मैं भी उनके साथ
अपने बेतरतीब चेहरे पर हँसती हूँ।
पर, रोज़ आईने से बातें करती हूँ—
अपने आप को सुंदर कह,
अपने बिखरे बालों को रेशम कहती हूँ।
ढीला-सा कुर्ता पहन
खुद में डूबकर, बिना लय गा,
बिन ताल के नाच करती हूँ।
ईश्वर ने मुझे मेरे लिए बनाया है—
उसे रोज़ सलाम करती हूँ।

तुम्हें मैं कुछ भी लगूँ,
पर मैं जो हूँ,
उसे दिल से प्यार करती हूँ।

*****

72.

मां
तेरी देहरी की चौखट
कब सिकुड़ गई?
और मैं
अचानक क्यों बड़ी हो गई?
मैं अब भी
घुटनों सरक कर
चुपके से
घर के अंदर आ
गुड़ की आख़िरी डली
चुरा लूंगी,
तेरी मार खा लूंगी।
मां,
मैं क्यों और कैसे
अब घर में मेहमान हो गई?
मैं अब भी
चुपके से पापा से लिपट
सीने से चिपट
उनकी रजाई में सोना चाहती हूं।
ना जाने किस पैमाने से नापी जाती हैं बेटियां,
जो अपने जन्मदाता के सामने
चुन्नी और तहज़ीब की मोहताज हो गईं।

एक हफ्ते में दो बार
तेरे घर आ नहीं सकती,
तेरे महीने के हिसाब में
समा नहीं सकती।
मैं अंश हूं तेरा,
कैसे किसी ग़रीब के घर का त्योहार हो गई?
गौर से देख,
मैं अब भी तेरी छोटी हूं—
जिसे कोख से अपनी पैदा किया, वही शैतान बेटी हूं।
धान की तरह रोप दिया
तो क्या हुआ?
फसल तो मैं भी तेरी हूं।
कुछ काले मोतियों से कैसे
किसी और का सामान हो गई?
मैं क्यों और कैसे अब
घर में मेहमान हो गई?

*****

73.

ज़िन्दगी की आपाधापी
यकायक लगी ब्रेक से रुक गई।
मेरी अलमारी में रखी
हर साड़ी के पल्लू में लगी गांठें मुझे मिल गई।
कुछ मीठी, कुछ खट्टी,
कुछ नीम-सी बन जाएँगी।
लगता है सब खोलूँगी तो
माँ के घर का बड़ा संदूक भी छोटा पड़ जाएगा।
हर गांठ का कोना इस एकांत में
मेरा मुझसे परिचय कराएगा।
रुमाल, स्कार्फ, शायद चादर के कोने—
तुम्हारे भी बंधे होंगे।
मैं हमेशा सही नहीं रही होऊँगी,
और तुम भी शायद हर बार सही नहीं कह रहे होगे।
संयम की पायल बाँध रुक गए थे,
कल घुँघरू बाँध उड़ रहे होंगे।
दरवाज़े पर पहरे लगे हैं,
आने-जाने की मनाही है,
पर भावों पर भी क्या धारा 144 लगाई है?
प्यार है —
जाने पर किसने रोक लगाई है?
मैं छोटी थी — भाई माथा चूम लेता था,
बहन गले लगाकर "लव यू" कहती थी।

माँ तेल की कटोरी लिए पीछे घूमती थी।
बेटा भी सालों पहले बाँहों में झूल लेता था।
कमबख्त गांठें क्यों नहीं खुल रहीं?
कितना वक़्त है आज मेरे पास,
फिर भी इन गांठों पर लगी सलवटें क्यों नहीं सँभल रहीं?
कोई जंग नहीं जो हिम्मत चाहिए—
बस प्यार से बाँहें फैलाओ और गले लग जाइए।
हर गांठ को खोल,
भरे संदूक को कहीं दफ़नाइए।

*****

74.

काश
ना आदम होता, ना आदम की जात होती,
न हाथरस होता, न दिल्ली की वो काली रात होती।
काश
मैं महलों में होती,
तो मुआवज़े की बात न होती।
काश
राज में नीति होती,
तो मुझ पर राजनीति न होती।
काश
धारा 144 होती,
तो मुझ पर बीती न होती।
काश ये 'काश' न होता,
तो हव्वा की बेटी कश्मकश में न रहती।
काश
तेरी नियत रहती,
तो ये हैवानियत न होती।
काश
दिलों में इंसान होता,
तो मेरे जिस्म से तू यूँ परेशान न होता।

काश
तू मैं होता —
तो मेरे दर्द का अहसास तो होता।

*****

75.

तुम गए हो —
तो लौटकर आओगे ही?
संभव है, संपूर्ण रूप में न सही,
पर तुम आओगे…

जब बारिश की बूँदें धरती को छू जाएँगी,
तुम्हारे न होने के प्रतिमान
ख़ुद-ब-ख़ुद भंग हो जाएँगे।

एक चाय की प्याली की छलक में,
खदकते भात की ख़ुशबू में,
नल से टप-टप करती पानी की आवाज़ में,
बेड़ु के पेड़ की टूटी-सी शाख़ में—
तुम फिर लौट आओगे।

बालकनी में पड़े अख़बार की
खुलती रबर की सरसराहट में,
गौधूलि पर नारंगी सूरज की आभा में—
तुम अदृश्य से दृश्य हो जाओगे।

वो कोने में पड़ी खाली कुर्सी
तुम्हारी अनुपस्थिति को
चीख-चीखकर दर्ज कराती है।
तस्वीर की माला — भ्रम है,

मैं आँखें रगड़कर
जमे मोतियाबिंद को हटाती हूँ।

प्रकाशवर्षों की दूरी को
आर्यभट बन नाप लूँगी,
यायावर बन
नया भूगोल, नया इतिहास रचूँगी—
बिन निशानों की राह पर
एक नई दिशा बना दूँगी।

क्या तुम उन पर चलकर आओगे?
हर उच्छवास में
कोई नया शब्द रच जाओगे?
क्या तुम आओगे?

*****

76.

अगर कुछ चीज़ मुफ्त में मिल जाए,
तो उसका मोल कौन समझ पाता है?
१०० रुपए की सब्ज़ी खरीदो,
तो साथ में धनिया-मिर्ची भी मुफ्त में आ जाता है।

जबसे वालमार्ट और ऐप वाला ज़माना आया है,
सब्ज़ी वाले की मुस्कान और मेहनत की कीमत याद आई है।

तभी एक और बात याद आई —
इज़्ज़त भी तो ऐसे ही मुफ्त में मिल जाती है!
कभी बहू बनकर ससुराल में घुस जाती है,
कभी जन्म की तारीख से चिपक जाती है।

मुफ्त में मिलती है,
इसलिए शायद दिखाई नहीं देती है।
आदर, प्यार, सम्मान — सब 'इज़्ज़त' के नाम हैं,
पर ज़रा बताओ, क्या किसी ने तय किए इनके दाम हैं?

अगर मैं हज़ार रुपए दूँ —
क्या तुम इज़्ज़त बेचोगे?
या अगर मैं सुनहरी गाड़ी से आऊँ —
तब क्या इज़्ज़त दोगे?

सच कहूँ —
इस मुफ्त के धनिए को हल्के में मत लो,
इज़्ज़त भी उसी की तरह है —
छोटी-सी, खुशबूदार,
पर पूरी थाली में स्वाद भर देती है।

तो अगली बार जब सब्ज़ी खरीदो —
धनिया की खुशबू को गले लगाओ,
और किसी इंसान की इज़्ज़त
मुफ्त में देकर मत गँवाओ।

*****

77.

पहली तारीख

माँ सैलरी आ गई

2 तारीख

माँ एक नई ड्रेस है ज़ारा में

3 तारीख

माँ नया चश्मा

4 तारीख

माँ नई मूवी आई है

5 तारीख

माँ एक नया विडिओ गेम सीडी

माँ माँ माँ

20 तारीख

माँ तुम कैसी हो ना

मेरे जन्मदिन पर कोई गिफ्ट नहीं दिया

दोस्तों को कितने मिलते है

बेटी का मुँह फूला

माँ का दिल टूटा

बेटी गुस्से में सामान फेंकती रही
और माँ बैंक स्टेटमेंट देखती रही
सच कुछ भी नहीं दे पाई जन्मदिन पर
पर पैसा गया तो गया कहाँ

*****

78.

मैंने उसे कुछ कहा,
जैसे कोई अपनी बंद डायरी
खुली छोड़ दे किसी अपने के सामने —
बिना शर्त,
बिना भय।
उसने वही बात
भरोसे में किसी और से कह दी —
जैसे मेरी ज़िंदगी के अपने लम्हे
अब बाज़ार की हवा में उड़ रहे हों।
बात तो बस इतनी सी थी —
मेरा भरोसा
मेरे ही हाथों से फिसल गया,
और उसका भरोसा
किसी और की हथेली में ठहर गया।
अब मेरी चुप्पी
उसके शब्दों से भारी है।
मैं कुछ नहीं कहती,
पर मेरी ख़ामोशी
हर मोड़ पर ग्रंथ बन जाती है —
जहाँ वो
किसी और के साथ मुस्कुरा कर कहते हैं,

"मुझे तो ये बात पहले से पता थी।"
और मैं...
बस सोचती रह जाती हूँ —
भरोसा भी तो
कटी पतंग जैसा होता है —
एक बार उड़ जाए,
तो लौटता नहीं…
और लौट भी आए,
तो वो धागा फिर से नहीं जुड़ता।

*****

79.

"मैं अच्छी नहीं हूं"

अच्छी लड़की प्रश्न नहीं करती,
अच्छी लड़की चुप रहती है।
अच्छी लड़की सहती है,
अच्छी लड़की पिटती है।

वो घाव छुपाती है —
और इसी लिए 'अच्छी' कहलाती है।
क्योंकि वही अपने घाव
अपनी बेटी की चुप्पी में बो देती है।

वो कहना मानती है,
वो तन को देखती है —
क्या पहना, कितना ढका,
क्या दिखा, क्या नहीं।

वो सिगरेट नहीं पीती —
क्योंकि उसे डर है कि धुआं
उसके चरित्र को खा जाएगा।

कभी-कभी तो
वो मांस भी नहीं खाती —
कहीं कोई कह न दे:
"अच्छी लड़कियाँ ऐसी चीज़ें नहीं खातीं।"

वो सिर झुकाकर चलती है,
गर्दन इतनी नीचे कि
सड़कों पर पड़े पुरुषों के घिनौने इरादे भी
उसकी नज़रों से ऊपर रह जाते हैं।

अच्छी लड़की —
पुरुषों की गंदी नज़रों से डरकर
घर में ही रह जाती है।

और अगर ये नज़रे
घर के ही पुरुष की हों —
तो वो कमरे में सिमट जाती है,
दीवारों से लिपटकर रोती है,
पर चुप रहती है।
क्योंकि चुप रहना ही उसे 'अच्छी' बनाए रखता है।

अच्छी लड़की देर रात बाहर नहीं जाती
क्योंकि नारीभक्षी रात को विचरण करते है

लेकिन मैं… मैं अच्छी नहीं हूं।
मैं सवाल करती हूं,
मैं सिर उठाकर चलती हूं,
मैं अपनी बेटी को चुप नहीं बनाना चाहती।

मुझे किसी परिभाषा में नहीं समाना,
किसी डर से नहीं सहना,
किसी मर्यादा में नहीं सड़ना।

और मुझे गर्व है —
कि मैं अच्छी नहीं हूं

*****

80.

तू भी सच था,
मैं भी थी —
पर तेरे सच में मेरी कोई जगह नहीं थी,
और मेरे सच में तेरा वजूद अधूरा था।

राम भी सही,
रावण भी —
सच बस इतना था
कि सीता की कोई गवाही नहीं थी।

कुरुक्षेत्र धर्म का युद्ध था —
अपना-अपना सच साबित करने को,
पर असल में
सच था बस स्त्रियों की कोख का शोक।

तू अर्जुन बना रहा,
कृष्ण, कर्ण और सुयोधन भी —
मैं अभिमन्यु,
जनती रही, मरती रही।

तेरा सच किताबों में था,
मेरा —
बस हृदय की खामोशी में।

सच वही होता है
जिसके पास लेखनी होती है — लाठी होती है।
झूठ —
अक्सर आँखों में गुम हो जाता है।

इतिहास शायद सच होता,
अगर एक पन्ने पर तू होता
और एक पन्ने पर मैं

*****

81.

मैं पैदा हुआ —
पहचान नहीं थी किसी की।
माँ-बाप की आँखों में झाँका,
पर समझ नहीं पाया,
क्योंकि कुछ ही घंटों में
खुद को पाया कचरे के ढेर पर।
एक हिंदू गुज़रा पास से —
मेरे नन्हें हाथों ने
उसके बड़े हाथ की ओर आस बढ़ाई।
उसने मुझे उठाया,
सीने से लगाया,
मुझे "कृष्ण" कहा
और हिंदू बना दिया।
फिर दादी आई —
गोमाता के लिए रोटी,
काले कौए के लिए एक टुकड़ा,
काले कुत्ते के लिए भी कुछ छोड़ा।
जब मेरी ओर देखा,
तो रोटी पकड़ा
और दो कदम पीछे हट गई।
बिस्तर फिर वही —
कचरे का ढेर हो गया।
और मैं

एक क्षण में
हिंदू से
फिर बस एक लावारिस बच्चा बन गया।
फिर किसी ने गोद में लिया,
रहीम कह पुचकारा,
"मैं तेरी अम्मी हूँ,"
पर समझने से पहले ही
अब्बा ने कहा —
"ये हमारा नहीं,"
और फिर छोड़ आए वहीं
पर रहम किया —
मज़ार की चादर में लपेट दिया।
कल शायद कोई गिरजाघर से आए,
मोमबत्ती जलाए,
पवित्र जल से नहलाकर
ईसाई बना दे।
या शायद —
मैं यहीं रहूँगा,
और एक दिन
किसी गुनाह को
धर्म का नाम दूँगा,
सड़कों पर बहाऊँगा
इंसानियत का लहू।कि मैंने तो कुछ जाना ही नहीं था —
मैं तो बस एक बच्चा था,
जिसे तुमने
धर्म का जामा पहनाया था।

*****

82.

एक दिन ईश्वर भी थक गया था,
उसने अपना सिर किसी वीरान आकाश पर टिका दिया —
और फूट-फूट कर रोया।
"ये आंसू लाल क्यों हो गए?"
उसने धरती से पूछा,
दिल नहीं फटता इन धमाकों से
कश्मीर से कन्या कुमारी तक
कभी मां चप्पल ढूंढती
अपने बच्चे के कटे पांव के लिए। कभी राखी के लिए हाथ
कभी कंधार में,
गालों पर लकीरें पक्की होती रही
कभी 9/11 की ऊँचाई से
इंसानियत खुद नीचे गिर गई थी —
ईश्वर ने अपने हाथों को खोला —
दोनों को रगड़ा
अब भी प्रेम और माधुर्य के फूल झड़ रहे थे
पर दिल, कैसे बंजर हो विष बेल बो गए
वीणा की तान बम और बारूद के छर्रे की आलाप हो गए
"मैंने तो सपने उगाए थे,
क्यों अब हर आँख बारूद की खान है?"
ईश्वर ने आखिरी बार धरती की तरफ देखा —

उसकी निगाहें भी पथरा गईं।
मैंने तो इंसान बनाए थे ये धर्मभीरू कैसे हो गए
मेरे नाम पर कब कहा था किसी सीने को चीर दो
मेरा सीना रोज छलनी है
अब ईश्वर ने प्रार्थनाएं सुननी छोड़ दीं।
बस बैठा है —
चुप, ठंडा, थका हुआ,
जैसे हिरोशिमा के मलबे पर
एटम बम बनाने वाला निस्तेज आत्मग्लानि से भरा।

*****

83.

माँ थोड़ी तीखी है…
जैसे किसी बीते वक़्त की कसैली याद —
जो ज़ुबान पर चुभती है,
पर दिल के किसी कोने को चुपचाप सहला जाती है।
वो है… यही बहुत है।
ताने देती है…
जैसे हर शब्द के नीचे छुपी होती है एक अधूरी प्रार्थना,
"तू न थके, न रूके — मेरी उम्र भी तुझपे वार दूँ।"
वो है… यही बहुत है।
वो माँ है —
जिसके आँचल की छाँव में दिन तपते नहीं,
और रात की सारी बेचैनियाँ… उसकी हथेली छूते ही पिघल जाती हैं।
वो है… यही बहुत है।
उसकी डाँट में कभी सुलगती चाय है,
कभी टूटे हुए सपनों की सलामती।
और उसकी ख़ामोशी…
कभी आईने को भी आईना दिखा देती है।
वो है… यही बहुत है।
वो देर रात तक जागने पर मिली कड़क चाय है,
उबली दाल में डाली गई चटपटी बघार है।
सर्दियों में जैसे किसी टूटे मन पर बहता गीज़र सा गरम पानी है,

गर्मियों की दोपहरी में कटे हुए तरबूज़ की ठंडी फाँक है,
और आम पना की वो सादगी… जो हर घूंट में सुकून रखती है।
वो है… यही बहुत है।
वो सूखी धरती पर अमृत सी दुआ की बौछार है
बिन बोले की आशीष, पत्थर के नीचे निकलते कोंपल का वट वृक्ष
कामना है
वो है… यही बहुत है।
वो बसंत की पहली हवा है,
जिसमें कोयल की कुहू नहीं,
बल्कि ममता की सिसकी गूंजती है।
वो है… यही बहुत है।
माँ…
वो परफेक्ट नहीं,सौ कमियां है
पर उसकी हर खामी मुझे पूरा बनाती है।
कभी तीखी, कभी मीठी — पर हर हाल में
मेरी सबसे बड़ी ख़ामोशी की सबसे ऊँची आवाज़ है — माँ।
वो है… यही बहुत है।

*****

84.

माँ ने फिर कान की मशीन हिलाई,
जैसे बीते बरसों को टटोल रही हो,
जैसे वो आवाज़ें अब भी हवा में तैरती हों,
पर कानों तक आने से डरती हों।
कमरा बुहारती है हर रोज़,
शायद धूल के नीचे कोई पुकार छुपी हो,
कोई 'माँ' कहने वाला,
कोई शिकायत, कोई सवाल…
पहले दीवारें भी बोलती थीं,
अब ख़ामोशी की परछाइयाँ चलती हैं।
सुनाई कम देता है,
या कोई बोलता ही नहीं??

*****

85.

माँ नब्बे की हो गई है।
अब दर्द उसके गले से नहीं,
मेरे दिल से निकलता है।
डॉक्टर कहता है —
"कुछ नहीं... उम्र है बस।"
पर मैं जानती हूँ —
उम्र कभी 'बस' नहीं होती,
जब वो तुम्हारी माँ हो।
मैं झुँझलाती हूँ,
जैसे कोई टूटते पत्तों को थामना चाहे —
पर हवा उसे सुनती ही नहीं।
काजल की डिब्बी से रोज़ नज़र उतारती हूँ,
फिर किसी नज़ूमी के धागे में वक़्त बाँधने की
नाकाम कोशिश करती हूँ।
गूगल बताता है —
बुढ़ापा सामान्य है।
गूगल की कोई माँ नहीं है। ,उसके लिए सब डेटा है,
होती, तो वो भी मेरी तरह
भोर और देर रात की
फोन की घंटी से काँपता।
माँ की आवाज़ अब शब्द नहीं देती —

वो बस दर्द की एक कंपन है,
जो छाती में उतरती है।
कल की ही बात लगती है —
जब माँ सीधी चल पाती थी,
मेरे बालों में तेल लगाती थी,
और मेरी पसंदीदा मसूर की दाल चूल्हे पर चढ़ाती थी
जैसे दाल में नहीं,
ममता में उबाल आता था।
अब भी कोशिश करती है —
कड़छी थामती है,
हाथ काँपते हैं,
दर्द को छुपाकर
छौंक लगाती है।
पर उसकी आवाज़ —
वो सब कह जाती है,
जो वो कभी कह नहीं पाई।
हर बार कहती है —
"तू तो मुझे ठीक कर ही देगी..."
और मैं मुस्कुराकर
झूठ बोलती हूँ,
जैसे बहादुर होना
माँ की उम्मीद में ज़रूरी हो गया हो।
पर सच्चाई ये है माँ —
मैं भी डरती हूँ।
तू न भी कहे तेरी चुप्पी में

तेरे भीतर की थकान सुनती हूँ।
जानती हूँ — सब शाश्वत सत्य है
पर मैं सौ में हजार और हज़ार की गिनती में
लाख जोड़ती रही हूँ।
दुआओं से, चुप्पियों से,
कभी मंदिर की देहरी से,
तो कभी तकिए में भीगी रात से।
माँ...
मैंने तुझे हर पल जितना पाया है,
उतना ही खोने से डरती हूँ।

*****

86.

अगर तू है—
तो छुरी पर लहू क्यों है?
वो नन्हीं जान — जो मुस्कुराना भी न सीख पाई,
वो बेजान क्यों है?
जो दर्द वो सहती है,
जिसे समझती ही नहीं।
कहते हैं—
हर पत्ता तेरे इशारे से हिलता है,
तो फिर ज़मीं बार-बार लाल क्यों होती है?
ग़ाज़ा की सुलगती माओं की चीख़,
सीरिया के मलबे में दबे खिलौने,
वो रोटियों से पहले बारूद गिनते बच्चे क्यों है?
मास के लोथड़ों पर
भूख से पागल गिद्ध क्यों है
गलत" अब तक
शब्दकोश से क्यों है?
तेरे ही बनाए संसार में
तेरे होने का मज़ाक बना चुके हैं।कभी लगता है —
तू जवाब देगा,
कंधे पर हाथ रखेगा,
कहेगा — "मैं हूं।"

पर तू चुप है…

इतना चुप कि

अब मौन का क्रंदन सीने पर हिमालय बन गया है

मैं डरती नहीं किसी अनहोनी से

मैं डरती नहीं तुझसे

तेरे चुप रहने से डरती हूँ।

क्योंकि जब ईश्वर चुप होता है,

मौन में राक्षस पैदा होते है

*****

87.

आजा, फिर बैठकर शतरंज खेलें,
दिमाग की चालों को दिल की मासूमियत से हराएं।
लड़ते हैं, चल फिर से टूटे खिलौनों पर,
इन अदालती दांवपेंचों में क्या रखा है।

चल, फिर लड़ें मां की गोद के लिए,
रोटी के उस पहले निवाले में अपना बचपन छिपाएं।
चल, फिर बचपन को ढूंढ लाएं,
इस बढ़ती उम्र की समझदारी को भूल जाएं।

चल, फिर कांधे पे चढ़कर,
कच्ची अमिया तोड़ लाएं।
इन दस्तावेजों की धूल छोड़,
चल, फिर रिश्तों की कश्ती चलाएं।

चल, बंद दरवाजों की कुंडी खटखटाएं,
और ठंडे रिश्तों पर अपनेपन की धूप फैलाएं।
फ्रिज में जमे जज्बातों को पिघलाएं,
और उन्हें दिल की गरमाहट से सजाएं।

आजा, ये समझदारी का बोझ उतार ,
बचपन की नादानी को गले लगाएं।
चल, फिर से हंसें बिना वजह,
जिंदगी की सांप सीढ़ी से कुछ दूर होंजाए।
आजा, बातें बिन बात करें,
बिन बात की बात को बात न बनाएं।

वहीं पुरानी बात करें,
जिनमें न साजिश थी, न बहाना,
बिन सिर-पैर की बातें,
जो दिलों को पास लाती थीं।
जहां खामोशी शब्दों से ज्यादा समझ आती थी

*****

88.

तुम दोस्त हो…"
जब सांसें अटक जाती हैं,
तुम धड़कनों के बीच की
वो धीमी गर्माहट बन जाती हो।
जब टूट के बिखर जाती हूं
कभी झिर्रियों से छनती धूप —
जो थकान की हड्डियों तक उतरती है,
कभी लोहड़ी की रेवड़ी —
कड़क, मीठी… और गले में अटकी हुई सी।
कभी जंगल से चुपचाप तोड़ा
एक लाल गुलाब —
जिसमें काँटे नहीं,
पर नींदों को चुभ जाती हैं।
कभी तुम अनकहे ख्वाबों की कहानी हो —
जो किसी और के हों,
पर मैं उन्हें अपने सिरहाने रख कर
सोती हूँ।
तुम कभी दिल का सुस्त आराम —
जैसे पुरानी चिट्ठियों की स्याही,
जिसे पढ़ते-पढ़ते
मैं फिर से जवान हो जाती हूँ।

और हाँ…

कभी सावन की शाम —

जिसमें भीगता कुछ नहीं,

बस भीतर कुछ बह जाता है

तुम मेरे जीवन की 911 हो,

बिना सोचे,

बिना पूछे डायल हो जाने वाली।

अलसाये बदतमीज पावर कट में

तब तुम जनरेटर जैसी आवाज़ हो —

कर्र-कर्र करती,

पर सुकून से भर देती।

तुम दोस्त हो…

टूटे दिल के भीतर

पेसमेकर की तरह टिक-टिक करती,

ज़िंदा रखने वाली।

कभी अघोरी की लाल आँख —

कभी गायत्री मंत्र की छाया।

डर और शांति — दोनों साथ।

तुम दोस्त हो…

निभाने की शर्तों से परे,

नामों की ज़रूरत से अलग।

एक धागा — वटवृक्ष पर बंधा

जो आत्मा से जुड़ा है।

नर्म… मजबूत… और स्थायी।

तुम दोस्त हो…

और शायद यही वजह है —
पूरी तरह जुड़ी हूं
अपनी धरती और
अपना आकाश हूं

*****

89.

मैं एक कविता हूं
ना मन्दिर का भजन हूँ,
ना मस्जिद की अज़ान,
न चर्च के घंटे की आवाज
न गुरुद्वारे का पाठ
मैं माँ की लोरी हूँ,
जो बेख़ौफ़ हर मज़हब की औलाद को सुलाती है।
मैं खेत की मिट्टी हूँ,
जो हर इंसान की भूख एक-सी मिटाती है।
मैं रंगों में नहीं बंटती
ना नामों में समाती
मैं वो सुर्ख खून हूं
जो हर नस में एक सा बहता है
मुझे न आरती से खतरा है,
न ला इलाहा से।
मुझे डर है उनसे
जो इंसान को धर्म बना देते हैं
मैं वो लेखनी हूँ,
जो सच बोलती है।
मैं किताब हूँ,
जो हर हाथ में खुलती है।

मैं वो हवा हूं
जो मंदिर की आरती को
मस्जिद की अज़ान से बेखौफ मिलाती है
हवन की खुशबू और बुखूर को एक कर जाती है
मैं ज़िन्दा रहूंगी
जब तक कोई बुल्लेशाह
मंदिरों मस्जिदों से परे
प्यार भरा दिल बचाता रहेगा
क्योंकि मैं एक कविता हूं
हिंदी की गोद में पली उर्दू नज़्म

*****

90.

ना —
एक शब्द नहीं ग्रंथ है

ना —
जो अगर उस दिन
दशरथ की आँखों से गिरा होता,
तो राम किसी पुराने पत्ते की तरह
धूप से अलग न होता।

अगर सभा में किसी ने
द्रौपदी के फटे कुर्ते को
देखकर नज़रे फेरने की जगह
एक धीमी सी "ना" कहा होता,
तो चीर नहीं खिंचता,
शब्द चिल्लाते नहीं,
चुप्पी चीख़ती।

एक बेटी —
जो हर रात दीवार पर छाया से डरती रही,
अगर एक बार
अपने तकिये में मुँह छुपा कर भी
"ना" कह देती,
तो शायद सुबह
किसी अख़बार में लहू की खबर न होती।

ना —
जो अक्सर चुप हो जाता है
सलीकेदार बर्ताव में,
जो दबा रह जाता है
प्यार की परिभाषाओं में।

काश, कोई मां
जिसने अपने बेटे को
सिर्फ इसलिए माफ कर दिया
कि वो उसका खून था,
अगर वो भी एक बार
“ना” कह देती,
तो उसकी कोख
पश्चाताप की आग में न जलती।

हिटलर के आगे
अगर किसी ने गर्दन उठाकर
“ना” कहा होता,
तो सभ्यता की नसों में
गैस नहीं, कविता बहती।

हिरोशिमा —
शायद अब भी किसी प्रेमिका का इंतज़ार करता
न कि राख में दबे ख़तों का।
नागासाकी के
चेरी ब्लॉसम डर के विकिरण नहीं ,मदमस्त होते

"ना"
इंकार नहीं, चेतावनी है।
विरोध का बीज है।
सही वक़्त पर बोला जाए
तो तबाही से बचा जा सकता है।

और जब चुप रह जाए,
तो खामोशी
सबसे बड़ा अपराध बन जाती है।

*****